हिन्दी आलोचना की विकास यात्रा

(Development Journey of Hindi Criticism)

करण मिश्र

हिन्दी आलोचना की विकास यात्रा

हिन्दी आलोचना की विकास यात्रा

(Development Journey of Hindi Criticism)

करण मिश्र

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5490-1

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भारतेन्दु-युग में नवजागरण के परिणामस्वरूप नये विचारों को समाने लाने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इन्हीं पत्रिकाओं में उस युग की चर्चित कृतियों की समीक्षाएँ प्रकाशित हुई। चौधरी प्रेमघन ने 'आनन्दकादम्बिनी' में लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' की विस्तृत समीक्षा प्रकाशित की थी। इसी कृति की समीक्षा श्री बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित की। इन दोनों समीक्षाओं से आधुनिक समीक्षा का सूत्रपात हुआ। इस युग के अन्य समीक्षकों में प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी-युग में हिन्दी-आलोचना का गम्भीर एवं तात्त्विक रूप तो नहीं दिखा, किन्तु उसकी कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ अवश्य विकसित हुई। सामान्यतः इस युग में हिन्दी-आलोचना के पाँच रूप लक्षित किये जा सकते हैं- शास्त्रीय आलोचना अर्थात् लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में काव्यांग-विवेचन, तुलनात्मक मूल्यांकन एवं निर्णय, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना परिचयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना। संस्कृत आचार्यों की पद्धति पर लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत करने की परम्परा रीति-काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी।

अन्वेषण और अनुसन्धानपरक' आलोचना का विकास 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1897) के प्रकाशन से हुआ। 'मिश्रबन्धु विनोद' (1913) में भी शोधपरक दृष्टि को महत्त्व दिया गया था और कवियों के वृत्त-संग्रह के साथ

उनकी प्राप्य-अप्राप्य कृतियों की सूचना तथा उनक काव्य के संबंध में मत-प्रकाश भी किया गया था।

परिचयात्मक आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग में ही हो गया था। आलोच्य युग में 'सरस्वती' के माध्यम से इस समीक्षा-पद्धति में स्थिरता और गम्भीरता आयी तथा समीक्षा का आदर्श स्थिर हुआ। परिचयात्मक आलोचनाएँ आलोच्य कृति के सामान्य परिचय, उसकी प्रशंसा, निन्दा, आलोच्य विषय या कृति के सम्बन्ध में स्वतन्त्र लेख, कृति-विशेष को किसी परम्परा ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखने की प्रवृत्ति तथा आलोच्य-विषय के प्रति भावात्मक लगाव व्यक्त करते हुए प्रभावाभिव्यंजन के रूप में लिखी गयी।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

प्रस्तावना *v*

1. हिंदी आलोचना का उद्‌भव और विकास **1**

भारतेन्दु युग की आलोचना 1

द्विवेदी युग में आलोचना 2

तुलनात्मक मूल्यांकन 3

अन्वेषण और अनुसन्धानपरक आलोचना 3

परिचयात्मक आलोचना 4

व्याख्यात्मक आलोचना 4

दृष्टि और प्रवृत्तियाँ 16

आलोचना का महत्त्व 21

2. भारतेन्दु युग **23**

भारतेन्दु युग और नवीन चेतना 26

भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ 28

निष्कर्ष 35

3. भारतेन्दु हरिश्चंद्र **36**

जीवन परिचय 37

साहित्यिक परिचय 38

महत्त्वपूर्ण कार्य 44

4. बालकृष्ण भट्ट **50**
बालकृष्ण भट्ट 50
जीवन परिचय 50
कार्यक्षेत्र 51
प्रमुख कृतियाँ 52
5. महावीर प्रसाद द्विवेदी **55**
हिन्दी के महान लेखक व पत्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी 55
प्रकाशित कृतियाँ 56
विचारात्मक अथवा गवेषणात्मक शैली 61
महत्वपूर्ण कार्य 62
6. रामचन्द्र शुक्ल **74**
हिंदी आलोचना एवं समकालीन विमर्श 74
व्यावहारिक समीक्षा 77
क्लिष्ट और जटिल 82
आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली 93
हिन्दी साहित्य 99
मलावी 102
आलोचना की और आचार्य रामचंद्र शुक्ल 113
7. रामविलास शर्मा **125**
हिंदी जाति की अवधारणा 132
8. द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना **136**
हिंदी आलोचना एवं समकालीन विमर्श 136
9. हजारी प्रसाद द्विवेदी **145**
ग्रन्थावली एवं ऐतिहासिक व्याकरण 148
रचनात्मक वैशिष्ट्य 149
महत्त्वपूर्ण कार्य 150
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आलोचना 154
चिंता और चेतना के संदर्भ 158
बौद्धिक अन–उपनिवेशन 160
चिंता पारतंत्र्य और पर का मतलब 166
हिंदू और बौद्ध 171

टकराव और द्वंद्व 171
बौद्धों का नजरिया 173
बौद्ध धर्म और भक्ति 178
भक्ति आंदोलन का प्रारंभ 180
धर्म, भक्ति और साहित्य 181
बौद्ध, इस्लाम और हिंदुत्व 184
हिंदू मुस्लिम एकता 192
कबीर की केंद्रीय वस्तु 197
समवाय, समन्वय और समाज 198
आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी 204
10. नामवर सिंह की आलोचना पद्धति 210
हिंदी आलोचना एवं समकालीन विमर्श 210
जीवन 214
प्रकाशित कृतियाँ 214

1

हिंदी आलोचना का उद्‌भव और विकास

हिंदी आलोचना का उद्‌भव और विकास हिंदी आलोचना का उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालें हिंदी के प्रमुख आलोचक हिंदी आलोचना की परंपरा का विकास hindi aalochana udbhav aur vikas आलोचना का अर्थ हिंदी में ऐतिहासिक आलोचना क्या है- आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग से मान्य है।यों तो रीतिकाल में संस्कृत काव्य-शास्त्र को उपजीव्य बनाकर अलंकार, रस, नायिका-भेद, छन्द-शास्त्र आदि का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया था और संस्कृत की ही टीका-पद्धति का अनुगमन करते हुए 'केशव' और बिहारी-जैसे कवियों के ग्रंथों की टीकाएँ भी लिखी गयी थीं, किन्तु इन प्रयत्नों को आलोचना नहीं कह सकते। लोकप्रचलित- 'सूर-सूर तुलसी ससी'- जैसी उक्तियाँ भी आलोचना नहीं थी। इनसे कवियों के सम्बन्ध में ककमत की व्यंजना आवश्यक होती थी, आलोचना नहीं थी।

भारतेन्दु युग की आलोचना

भारतेन्दु-युग में नवजागरण के परिणामस्वरूप नये विचारों को समाने लाने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ।इन्हीं पत्रिकाओं में उस युग की चर्चित कृतियों की समीक्षाएँ प्रकाशित हुई।चौधरी प्रेमघन ने 'आनन्दकादम्बिनी'

में लाला श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' की विस्तृत समीक्षा प्रकाशित की थी।इसी कृति की समीक्षा श्री बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित की। इन दोनों समीक्षाओं से आधुनिक समीक्षा का सूत्रपात हुआ। इस युग के अन्य समीक्षकों में प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त उल्लेखनीय हैं।भट्ट जी ने युग की परिवर्तित मानसिकता को ध्यान में रखकर नवीन सामाजिक चेतना की दृष्टि से समीक्षा को नया रूप दिया। चौधरी प्रेमघन ने समीक्षा के सिद्धान्त पक्ष को दृष्टि में रखकर कृति-विशेष की संरचना में लक्षित त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। भट्ट जी की आलोचना को उपयोगितावादी कहा जा सकता है। उनके सामने सामाजिक और राष्ट्रीय मूल्य प्रधान थे। वे इसी दृष्टि से कृतियों की परख करते थे। श्री बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त ने इस भूल्यवादी परम्परा को आगे बढ़ाया। भट्ट जी की 'नील देवी', 'परीक्षागुरु', 'संयोगिता स्वयंवर' और 'एकान्तवासी योगी' आदि ग्रंथों की आलोचनाएँ तत्कालीन समीक्षा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखित आलोचनाएँ भी इसी परम्परा को आगे बढ़ाने वाली हैं, किन्तु उनका कृतित्त्व बहुत कुछ द्विवेदी-युग की सीमा में आता है।

सब मिलाकर कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग में आधुनिक हिन्दी-आलोचना का सूत्रपात तो हो गया था,किन्तु तत्कालीन समीक्षकों में न तो सूक्ष्म काव्य-सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों को पहचानने की क्षमता थी और न रचना में निहित जीवन-मूल्यों को सौन्दर्य-तत्त्व से जोड़कर व्याख्यायित करने की शक्ति।

द्विवेदी युग में आलोचना

द्विवेदी-युग में हिन्दी-आलोचना का गम्भीर एवं तात्त्विक रूप तो नहीं दिखा,किन्तु उसकी कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ अवश्य विकसित हुईं।सामान्यत: इस युग में हिन्दी-आलोचना के पाँच रूप लक्षित किये जा सकते हैं- शास्त्रीय आलोचना अर्थात् लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में काव्यांग-विवेचन, तुलनात्मक मूल्यांकन एवं निर्णय, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना परिचयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना। संस्कृत आचार्यों की पद्धति पर लक्षण ग्रन्थ प्रस्तुत करने की परम्परा रीति-काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। आलोच्य-युग में भी इस परम्परा में जगन्नाथ प्रसार 'भानु' ने काव्य-प्रभाकर (1910) तथा 'छन्द-सारावली' (1917) और लाला भगवानदीन ने 'अलंकार-मंजूषा' (1916)

की रचना की। 'भानु' जी ने भूमिका अंग्रेजी में लिखी है और हिन्दी के अनेक पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी दिये हैं। उन्होंने यथास्थान हिन्दी-अलंकारों के समकक्ष फारसी, अरबी और अंग्रेजी अलंकारों का भी उल्लेख किया है। इससे प्रकट है कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकों का ध्यान दोनों ही लेखक को रहा है।

तुलनात्मक मूल्यांकन

तुलनात्मक मूल्यांकन आलोच्य युगीन समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। तलनात्मक आलोचना का आरम्भ सामान्यत: 1907 ई. में पद्‌मसिंह शर्मा द्वारा 'बिहारी' और 'सादी' की तुलना से माना जाता है, किन्तु यह सही नहीं है। बाबू शिवनंदन सहाय ने सन् 1905 ई. में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कविता की विस्तृत समीक्षा करते हुए उनकी तुलना 'शेखर', 'पद्‌माकर', 'तुलसीदास आदि कवियों से की है और उन्हें एक प्रकृत कवि के रूप में प्रस्तुत किया है। यह तुलना बहुत ही संयत और सारगर्भित है। इसलिए श्री पद्‌मसिंह शर्मा को तुलनात्मक आलोचना का पुरस्कर्ता नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य है कि उन्होंने तुलना को ही समीक्षा का पर्याय मान लिया और 1908 ई. से 1912ई. तक वे 'सरस्वती' में संस्कृत और हिन्दी-कविता के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाँति परीक्षा करते रहे। इसके बाद 1910 ई. में मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी-नवरत्न' प्रकाशित हुआ। इसे भी तुलनात्मक आलोचना की धूम मच गयी। 'लाला भगवान दीन' और 'कृष्णबिहारी मिश्र' ने देव और बिहारी की विशद तुलना करते हुए एक को दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

अन्वेषण और अनुसन्धानपरक आलोचना

अन्वेषण और अनुसन्धानपरक' आलोचना का विकास 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1897) के प्रकाशन से हुआ। 'मिश्रबन्धु विनोद' (1913) में भी शोधपरक दृष्टि को महत्त्व दिया गया था और कवियों के वृत्त-संग्रह के साथ उनकी प्राप्य-अप्राप्य कृतियों की सूचना तथा उनक काव्य के सम्बन्ध में मत-प्रकाश भी किया गया था। मिश्रबन्धुओं के अतिरिक्त शोधपरक आलोचना के उन्नायकों में बाबू 'यामसुन्दरदास, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथ 'रत्नाकर' और सुधाकर द्विवेदी उल्लेखनीय हैं। इन सभी का सम्बन्ध 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' से रहा। इस पत्र में समालोचनाएँ व्यक्ति-विशेष के नाम से न छपकर

'समालोचना-समिति' के नाम से प्रकाशित होती थीं। 'समालोचना-समिति' में श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसाद, बाबू तोताराम, श्रीधर पाठक, विश्वनाथ शर्मा, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, शिवप्रसाद शर्मा, बाबू मुन्नीलाल जैसे साहित्यकार थे। इस पत्र का प्रकाशन अधिक दिनों तक नहीं हो सका, किन्तु इससे आलोचना का स्तर निश्चित रूप से ऊँचा हुआ था।

परिचयात्मक आलोचना

परिचयात्मक आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग में ही हो गया था। आलोच्य युग में 'सरस्वती' के माध्यम से इस समीक्षा-पद्धति में स्थिरता और गम्भीरता आयी तथा समीक्षा का आदर्श स्थिर हुआ। परिचयात्मक आलोचनाएँ आलोच्य कृति के सामान्य परिचय, उसकी प्रशंसा, निन्दा, आलोच्य विषय या कृति के सम्बन्ध में स्वतन्त्र लेख, कृति-विशेष को किसी परम्परा ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखने की प्रवृत्ति तथा आलोच्य-विषय के प्रति भावात्मक लगाव व्यक्त करते हुए प्रभावाभिव्यंजन के रूप में लिखी गयी। 'सरस्वती' में प्रकाशित परिचात्मक आलोचनाएँ प्रायः महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा ही लिखी गयी है। द्विवेदी जी समालोचक का कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए कहा था- 'किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए'। द्विवेदी जी ने विषय-विवेचना के साथ ही भाषा सम्बन्धी त्रुटियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। आलोचना के क्षेत्र में उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है "यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखायी पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती।

व्याख्यात्मक आलोचना

व्याख्यात्मक आलोचना किसी रूढ़ि का अनुसरण न करके आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों के आधार पर की जाती थी। कभी-कभी परिचयात्मक आलोचना विशद और गम्भीर होने पर व्याख्यात्मक आलोचना का

रूप ले लेती थी। इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन' ने 'आनन्द कादम्बिनी' में लाला श्री निवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से कर दिया था। बालकृष्ण भट्‌ट ने 'हिन्दीप्रदीप' में 'नील देवी', 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता स्वयंवर' की गम्भीर आलोचना करके इस पद्धति को पुष्ट किया था।बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दी बंगवासी' में 'अश्रुमती' नामक बँगला नाटक के हिन्दी अनुवाद (मुंशी उदितनारायण-कृत) का आलोचना द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाया, किन्तु ये मात्र प्रारम्भिक प्रयास थे।आलोचना की इस शैली का विशद वैज्ञानिक स्वरूप आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनाओं में प्रतिष्ठित हुआ।

वस्तुतः, आलोच्य-युग की उपर्युक्त सभी प्रकार की आलोचनाओं में प्रतिमान के रूप में दो दृष्टियाँ लक्षित होती हैं- एक तो परम्परागत शास्त्रीय दृष्टि जिसके आधार पर आलोच्य कृति का गुण-दोष विवेचन करके उसकी उत्कृष्टता या हीनता प्रमाणित की जाती थी, दूसरी नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि, जो आलोच्य कृति के व्यापक प्रभाव के परिणाम को दृष्टि में रखकर उसकी श्रेष्ठता या हीनता घोषित करती थी। जिस-तुलनात्मक आलोचना ने आलोच्य युग में सबसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उसका मूल आधार शास्त्रीय दृष्टि से गुण-दोष विवेचन ही था। इस आलोचना से प्राचीन कवियों की ओर सामान्य शिक्षित जनता का ध्यान आकृष्ट हुआ। तुलनात्मक समीक्षकों में पद्‌मसिंह शर्मा का महत्त्व शृंगार-वर्णन की दीर्घकालीन परम्परा का निदर्शन करते हुए उसके बीच बिहारी का मूल्यांकन करने के कारण, कृष्णबिहारी मिश्र का महत्त्व प्राचीन शास्त्रीय समीक्षा को सच्चे रूप में प्रतिष्ठित करने के कारण और लाला भगवानदीन का महत्त्व बिहारी की बारीकियों को लक्षित करने में है। इन सभी समीक्षकों ने आलोच्य कृतियों का गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिए इनके कथनों में तत्त्व और प्रभावोत्पादन चाहे, पद्‌मसिंह शर्मा की उल्लासित भाव-तरल दृष्टि, चाहे मिश्रबन्धुओं की लचीली और अस्थिर सौन्दर्य-दृष्टि हो, चाहे लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र की स्थिर शास्त्रीय दृष्टि, प्राचीन रस-दृष्टि से किसी का विरोध नहीं था।अपनी सीमाओं के बावजूद ये सभी आलोचक रसात्मक कविता को ही महत्त्व देते रहे।

शुक्ल युग की आलोचना

द्विवेदी-युग के अन्तिम चरण में आचार्य शुक्ल का आलोचना के क्षेत्र में आगमन हुआ। उन्होंने तुलनात्मक आलोचना के स्थान पर विवेचन और

व्याख्या-मूलक आलोचना पर बल दिया। इनकी समीक्षा में पारम्परिक शास्त्रीय दृष्टि और सामाजिक मूल्यों को महत्त्व देने वाली नैतिक दृष्टि का संश्लिष्ट रूप विकसित हुआ। आचार्य शुक्ल हिन्दी-आलोचना के शिखर पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हुए।इनके आलोचक व्यक्तित्त्व का पूरा उत्कर्ष छायावादी-युग में हुआ इन्होंने 'छायावाद' के सकारात्मक पक्ष को स्वीकार किया और उसके महत्त्वपूर्ण आधार-तत्त्वों को हिन्दी-साहित्य में छायावादी युग आया।आलोचना भी छायावाद की सौन्दर्य-दृष्टि के अनुकूल होने लगी। इसीलिए उसे छायावादी-आलोचना कहा जाने लगा।

हिंदी की विभिन्न विधाओं की तरह आलोचना का विकास भी प्रमुख रूप से आधुनिक काल की देन है। किसी भी साहित्य के आलोचना के विकास की दो प्रमुख शर्तें हैं-पहली कि आलोचना रचनात्मक साहित्य से जुड़ती हो और दूसरी कि वह समकालीन साहित्य से जुड़ती हो। हिंदी आलोचना अपने प्रस्थान बिंदु से ही इन दोनों कसौटियों पर खरी उतरती है। आधुनिक काल से पहले आलोचना का स्वरुप प्रमुखतया संस्कृत काव्यशास्त्र की पुनरावृत्ति हुआ करती थी। लेकिन आज जो हिंदी आलोचना का स्वरुप है, उसका आरम्भ आधुनिक हिंदी साहित्य के साथ या यों कहा जाय कि साहित्य में आधुनिक दृष्टि के साथ ही साथ हुआ है। हिंदी आलोचना संस्कृत के काव्यशास्त्रीय चिंतन की पृष्ठभूमि को स्वीकार करते हुए नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं और नवीन सामाजिक सरोकारों से टकराते हुए विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृत्तियों से युक्त होती चलती है।

हिंदी आलोचनाः स्वरूप और संकल्पना

संस्कृत काव्यशास्त्र की पुनरावृत्ति होने के कारण रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय विवेचन में न तो सूक्ष्म विश्लेषण और पर्यालोचन था और न ही मौलिकता ही थी। इसमें काव्यशास्त्रीय रस तो विद्यमान था, लेकिन सामाजिक संदर्भो में उभरते हुए जीवन काव्य का रस नहीं। कुल मिलाकर हिंदी आलोचना का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में हिंदी के विकास के सामानांतर हुआ है। आधुनिक गद्य साहित्य के साथ ही हिंदी आलोचना का उदय भी भारतेंदु युग में हुआ। जिस प्रकार देश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं एवं विषमता बोध से लगाव के कारण इस काल का साहित्य विकसित हुआ उसी प्रकार आलोचना का भी संबंध यथार्थ बोध से हुआ और यह प्रतीत होने लगा कि रस किसी छंद

में नहीं है बल्कि मानवीय संवेदना के विस्तार में है। हिंदी आलोचना की संकल्पना के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है, जिसकी ओर विश्वनाथ त्रिपाठी ने संकेत किया है, कि "हिंदी आलोचना पाश्चात्य की नकल पर नहीं, बल्कि अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यता के कारण जन्मी और विकसित हुई।" यही कारण है कि हिंदी आलोचना, रचनाशीलता की समानधर्मी रही है। हिंदी साहित्य की मुक्तिकामी चेतना के अनुकूल हिंदी आलोचना भी संस्कृत काव्यशास्त्र की आधार-भूमि से जुड़कर भी स्वाभाविक रूप से रीतिवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद, कलावाद और अभिजात्यवाद विरोधी और स्वच्छंदताकामी रही है। इसके साथ ही हिंदी आलोचना संस्कृत के शास्त्र सम्मत स्वरूप से इत्तर रचना को केंद्र में स्थापित करती है। रचना और आलोचना की समानधर्मिता या समांतरता को डॉ. राम विलास शर्मा के इस मंतव्य से समझा जा सकता है कि जो काम निराला ने काव्य में और प्रेमचंद ने उपन्यासों के माध्यम से किया वही काम आचार्य शुक्ल ने आलोचना के माध्यम से किया। हिंदी आलोचना और रचना के गहरे संबंध का सुखद परिणाम यह होता है कि आलोचना या आलोचक अपने विवेचन या मूल्यांकन का परिष्कार रचना के बीच से करते हैं न कि शास्त्रवाद के साये में। यहीं प्रवृत्ति हम नयी कविता के दौर में भी देखते हैं, जहाँ रचनाओं के मूल्यांकन की प्रक्रिया में हिंदी आलोचना में कुछ अवधारणात्मक शब्द जैसे आधुनिकता, प्रयोगशीलता, प्रगतिशीलता, प्रतिबद्धता, भोग हुआ यथार्थ, लघु मानव, अनुभूति की प्रमाणिकता, अद्वितीय क्षण, व्यक्ति सत्य, मानव मूल्य, विसंगति, विडंबना, तनाव, ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान, सचेतनता, व्यापकता और गहराई, ईमानदारी समझदारी, बिम्ब और सपाटबयानी विकसित होते गए हैं। जब नयी कविता और उसके बाद की कविता में अर्थ की परत सघनतर होती है, अभिव्यक्ति सूक्ष्मतर होती जाती है तो आलोचना भी व्याख्या और निर्णय से आगे बढ़कर रचना के अर्थ-संवर्द्धन को अपना दायित्व मानती है। संक्षेप में और आचार्य शुक्ल के शब्दों को उधार लेकर कहा जा सकता है हिंदी आलोचना अपने स्वरूप और संकल्पना में 'साहित्येतर' और 'उपयोगिता' कसौटी को स्वीकार नहीं करती है।

हिंदी आलोचना का विकास क्रम

हिंदी आलोचना का इतिहास रीतिकाल से थोड़ा पहले शुरू होता है। ऐसा माना जाता है कि 'हिततरंगिणी' के लेखक कृपाराम हिंदी के पहले काव्यशास्त्री

थे। लेकिन हिन्दी में 'काव्य रीति' का सम्यक समावेश सबसे पहले आचार्य केशव ने ही किया, जिसका अनुकरण परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों और लक्षणकारों ने किया। हिंदी में वार्ता-ग्रंथों, भक्तमालों और उनके टीका-ग्रंथों के रूप में आलोचना की जो प्राचीन परंपरा मिलती है, वह नि:संदेह हिंदी आलोचना का प्रवेश द्वार है।, लेकिन आचार्यत्व और कवित्व के एकीकरण के इस दौर में आलोचना लक्षण, उदाहरण और टीकाओं तक ही सीमित थी। हिंदी आलोचना के विकास को हम निम्न अवस्थाओं के अंतर्गत देख सकते हैं--

भारतेंदु युग

भारतेंदु काल में जैसे ही साहित्य रीतिकालीन अन्त:पुर के लीला-विनोद से निकलकर जन-समूह के हृदय के जन-पथ पर अग्रसर हुआ, हिंदी आलोचना भी अपने युगीन साहित्य को समझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के अनुरूप रीतिकालीन केंचुल को उतार कर एक नए चाल में ढल गई। इस युग के प्रमुख रचनाकार बालकृष्ण भट्ट के "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है" सूत्र से साहित्य को परिभाषित किया तो हिंदी आलोचना भी उसके साथ होकर जन समूह की भावनाओं की सारथी बन गई। इस काल में आलोचना पत्र-पत्रिकाओं के लेखों, टिप्पणियों और निबंधों से विकसित हुई है। 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'भारत मित्र', 'सार सुधानिधि', 'ब्राह्मण', और 'आनंद कादंबिनी' जैसी पत्रिकाओं के लेखों में साहित्य और देश की समस्याओं पर सोचने-विचारने और समाधान निकालने की प्रक्रिया में इस युग की आलोचना दृष्टि विकसित हुई। इस युग में यदि नाटक प्रमुख साहित्यिक विधा थी तो आलोचना का प्रारंभ भी ' नाटक' के स्वरूप पर सैद्धांतिक विवेचन से हुआ, भारतेंदु ने अपने 'नाटक' विषयक लेख में नाटकों की प्रकृति, समसामयिक जनरुचि और प्राचीन नाट्यशास्त्र की प्रासंगिकता पर विचार किया। इसलिए भारतेंदु को हिंदी साहित्य का प्रथम आलोचक माना जा सकता है।

भारतेंदु के कार्य को बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन'और बालकृष्ण भट्ट ने आगे बढ़ाया। इस युग में किसी सम्पूर्ण कृति के गुण-दोषों की समीक्षा की शुरुआत 'प्रेमघन'और बालकृष्ण भट्ट के द्वारा की गई। प्रेमघन जी ने 'आनंद कादम्बिनी' के एक अंक में बाणभट्ट की 'कादंबरी' की प्रशंसात्मक आलोचना की और एक अन्य लेख में बाबू गदाधर सिंह द्वारा 'बंग-विजेता' नामक बांग्ला उपन्यास के हिंदी अनुवाद की आलोचना करते हुए उपन्यास के अंतरंग-बहिरंग

दोनों पक्षों पर विचार किया है। प्रेमघन जी ने 'आनंद कादम्बिनी' में ही लाला श्री निवासदास कृत नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना की। 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना बालकृष्ण भट्‌ट ने भी 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से 'हिंदी प्रदीप'में की। भट्‌ट जी ने ऐतिहासिक आख्यानों के साहित्यिक उपयोग, देशकाल, पात्रों की स्वाभाविकता और रचना की जीवंतता के आधार पर आलोचना की।

द्विवेदी युग

भारतेंदु के बाद हिंदी आलोचना ही नहीं, सम्पूर्ण हिंदी साहित्य पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का सबसे अधिक प्रभाव रहा। आचार्य द्विवेदी हिंदी के प्रथम लोकवादी आचार्य थे और युग-बोध एवं नवीनता के पोषक थे। भारतेंदु से प्रवर्तित हुई हिंदी आलोचना में वैज्ञानिकता की परंपरा को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू 'यामसुन्दरदास ने नवीन ज्ञान-विज्ञान के आलोक में विकसित किया। आचार्य द्विवेदी ने जहाँ 'सरस्वती'पत्रिका के संपादन के द्वारा आलोचना की भाषा का रूप सुस्थिर किया, वहीं बाबू 'यामसुन्दरदास ने आलोचना के आवश्यक उपादान एकत्र किये, उन्हें व्यवस्थित और संयोजित किया। द्विवेदी युग में सैद्धांतिक और परिचयात्मक आलोचना के साथ-साथ तुलनात्मक, मूल्यांकनपरक, अन्वेषण और व्याख्यात्मक आलोचना की भी शुरुआत हुई, आचार्य द्विवेदी ने साहित्य को "ज्ञान राशि के संचित कोष" के रूप में परिभाषित करते हुए ज्ञान की साधना पर विशेष बल दिया, जिसका रचनात्मक उपयोग साहित्य में तो हुआ ही, आलोचना में भी उपयोग किया गया। आचार्य द्विवेदी के 'कवि और कविता'और 'कविता तथा कवि-कर्त्तव्य' निबंधो में उनकी काव्य विषयक धारणाएं दृष्टिगत होती है। वे यथार्थ को काव्य के लिए आवश्यक मानते है। द्विवेदी जी काव्य-भाषा के लिए अलंकारिता के विरुद्ध सहज, सरल और जन-साधारण की भाषा का समर्थन करते हैं, और बोलचाल की हिंदी भाषा को आधुनिक साहित्य की भाषा घोषित किया।

द्विवेदी युग के अन्य प्रमुख आलोचक मिश्र बंधु, पं. पद्‌म सिंह शर्मा तथा पं. कृष्ण बिहारी मिश्र है। मिश्र बंधुओं को तुलनात्मक आलोचना का पुरस्कर्ता माना जाता है। उनके ' हिंदी नवरत्न' में नवरत्नों का चयन ही कवियों की परस्पर तुलना के द्वारा किया गया था। इन आलोचकों के बीच 'बिहारी और देव'में कौन श्रेष्ठ है, को लेकर कई चरणों में तुलनात्मक आलोचनाएं लिखी गईं। लेकिन मिश्र

बंधुओं की दृष्टि रीतिकालीन संस्कारों से मुक्त नहीं पायी थी। कुल मिलाकर द्विवेदी युगीन आलोचना इतिवृत्तात्मक और गुण-दोष कथन तक की सीमित रही।

अध्यापकीय आलोचना

अध्यापकीय आलोचना की शुरुआत भी द्विवेदी युग की ही देन है। विश्वविद्यालयों में कई शिक्षक अध्यापन के लिए आलोचनात्मक पुस्तक की कमी को पूरा करने के लिए इस दिशा में अग्रसर हुए। इन अध्यापकों में बाबू 'श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्थान अग्रणी है। बाबू 'श्यामसुंदरदास ने एम.ए. के पाठ्यक्रम के लिए 'साहित्यालोचन', 'रूपक-रहस्य' और 'भाषा-रहस्य' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। हिंदी आलोचना को आधुनिक और गंभीर साहित्यांग के रूप में विकसित करने का प्रयास करने वाला 'साहित्यालोचन' संभवत: प्रथम ग्रन्थ है। बाबू श्यामसुंदरदास शोधपरक आलोचना का भी विशिष्ट उदाहरण है।

शुक्ल युग

हिंदी आलोचना को आलोचना शास्त्र के रूप में व्यवस्थित, गाम्भीर्य और समृद्ध करने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। आचार्य शुक्ल ने सैद्धांतिक आलोचना को भारतीय साहित्य चिंतन परम्परा और पाश्चात्य साहित्य परम्परा के समन्वय से समृद्ध किया। उनकी आलोचना दृष्टि भारतेंदु युग की उसी सामाजिक-नैतिक चेतना से रूपाँकार ग्रहण करती है, जिसका विकास रीतिवाद विरोधी अभियान के रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी में दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल ने निजी पसंद-नापसंद पर आधारित आलोचना को खारिज करके साहित्य के वस्तुवादी दृष्टिकोण का विकास किया। उन्होंने साहित्यिक आलोचना और इतिहास के लिए साहित्येत्तर और उपयोगितावादी मानदंडों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास'और 'चिंतामणि' के निबंधों के साथ ही सूरदास, जायसी और तुलसीदास के काव्य के व्यवस्थित मूल्यांकन की प्रक्रिया में कुछ बीज शब्द गढ़े, जो आलोचनात्मक प्रतिमान के रूप में स्थापित हुए। 'कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद', हृदय की मुक्तावस्था, 'आनंद की साधनावस्था', 'आनंद की सिद्धावस्था', 'लोक-सामान्य', 'साधारणीकरण', 'लोकमंगल' आदि प्रतिमानों की स्थापना साहित्यिक समीक्षाओं के आधार पर करते हैं। इसलिए उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में संगति है। वे

सूरदास को आनंद की सिद्धावस्था का कवि मानते हैं तो तुलसीदास को साधनावस्था का और जायसी के काव्य में 'प्रेम की पीर' की व्यंजना को महत्त्व देते हैं। शुक्ल जी छायावाद के आध्यात्मिक रहस्यवाद को काव्य के क्षेत्र के बाहर की चीज समझते थे।

आचार्य शुक्ल ने उपन्यासों और कहानियों पर भी विचार करते हुए लेखकों से व्यापक सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन के चित्रण करने का आग्रह किया है। उनके सहवर्ती आलोचकों में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल, बाबू गुलाब राय, पदुमलाल पुन्नालाल बक्सी, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय और रामदहिन मिश्र प्रमुख है, जो अपनी अपनी तरह से शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि का ही विस्तार कर रहे थे।

शुक्लोतर हिंदी आलोचना

आचार्य शुक्ल हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष थे, लेकिन शुक्लोतर हिंदी आलोचना का विकास शुक्ल जी मान्यताओं के साथ टकराहट के साथ शुरू हुआ। टकराहट का प्रमुख कारण था और टकराने वालों में छायावाद के प्रति सहानुभूति पूर्ण रुख रखने वाले रचनाकार और समीक्षक थे। शुक्ल जी के समकालीन कवियों में प्रसाद, पन्त और निराला प्रमुख थे, जिन्होंने छायावादी काव्य रचना के साथ ही छायावाद के सन्दर्भ में शुक्ल जी मान्यताओं और प्राचीन शास्त्रावादी साहित्य मूल्यों का प्रतिवाद करते हुए छायावादी काव्यरचना को समझने के लिए एक दृष्टि प्रदान की। पन्त के 'पल्लव' को छायावादी आलोचना के नए प्रतिमानों का पहला घोषणापत्र कहा जाता है। इन कवि आलोचकों ने छायावादी साहित्य की काव्यभाषा, यथार्थ निरूपण, अर्थ मीमांसा, छंद मुक्ति, शिल्प-बोध आदि के एक नए साहित्य शास्त्र द्वारा काव्य बोध कराने का मार्ग प्रशस्त किया। पन्त का काव्यभाषा विश्लेषण निराला का छंद संबंधी विचार और महादेवी के गीत-विधा विवेचन का हिंदी आलोचना में महत्वपूर्ण स्थान है। यही नहीं, निराला ने हिंदी आलोचना में पहली बार कविता के आवयविक सिद्धांत की व्याख्या की और प्रसाद ने हिंदी आलोचना को दार्शनिक धरातल प्रदान किया।

हिंदी अलोचना को जो प्रौढ़ता और सुव्यवस्था आचार्य शुक्ल ने प्रदान किया था, उसे आगे ले जाने का चुनौतीपूर्ण कार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र की महान त्रयी ने किया। ये तीनों अलग-अलग

विषयों पर शुक्ल जी से टकराये भी। नन्द दुलारे वाजपेयी का शुक्ल जी से मतभेद केवल छायावादी काव्य को लेकर था और उनका हिन्दी आलोचना में सबसे महान योगदान छायावाद को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना है और उन्होंने सिद्ध किया। छायावाद की मूल प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। वाजपेयी जी काव्य-सौष्ठव को सर्वोपरि महत्त्व दिया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का शुक्ल जी मतभेद इतिहास-बोध को लेकर था। उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में हिंदी साहित्य को एक समवेत, भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास के रूप में समझने का प्रयास और प्रस्ताव किया। काव्य-रूढ़ियों और कवि-प्रसिद्धियों के माध्यम से काव्य के अध्ययन का प्रस्ताव भी हिंदी आलोचना को एक महत्वपूर्ण देन है। इस आधार पर ही द्विवेदी जी पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार किया। साहित्य और जन जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण पूरीतरह से मानवतावादी था, जो शुक्ल जी के लोकमंगलवाद से काफी दूर तक मेल खाता है।

डॉ. नगेन्द्र ने फ्रायडीय प्रभाव के तहत मनोविश्लेषणात्मक व्याख्याएं की और शास्त्र विवेचन करते हुए भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सामानांतर सिद्धांतों की तुलना कर दोनों के बीच समान तत्त्वों की खोज की।

शुक्लोतर आलोचकों में डॉ. देवराज का स्वर कुछ अलग था। उन्होंने शुक्ल जी के सूत्रों और कुछ नयी प्रवृत्तियों के आधार पर छायावाद की दुर्बलताओं की सोदाहरण व्याख्या करते हुए छायावाद के पतन की घोषणा कर दी और सांस्कृतिक-बोध को साहित्य के प्रतिमान के रूप में स्थापित किया।

शुक्लोतर आलोचना में अज्ञेय का भी अहम् योगदान है। उनकी भूमिकाओं (कवि-दृष्टि), निबंध ('त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'अद्यतन') और समग्र विवेचन ('संवत्सर') में साहित्य ही नहीं, रचनात्मकता और सम्प्रेषण मात्र की विविध समस्याओं का गहरा और सुलझा हुआ विश्लेषण हुआ है।

प्रगतिवादी आलोचना

शुक्लोतर युग में हिंदी आलोचना का विकास अनेक दिशाओं में हुआ। इनमें प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी, दार्शनिक और शैली वैज्ञानिक आलोचना प्रवृत्तियाँ प्रमुख है। प्रगतिवादी आलोचना का आधार मार्क्सवादी आलोचना थी। शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव और नामवर सिंह

प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक रहे हैं। रामविलास शर्मा ने हिंदी साहित्य को वैचारिक कठमुल्लेपन से बाहर निकाला और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हिंदी साहित्य की पुनर्व्याख्या की। आदि काव्य से लेकर समकालीन साहित्य हिंदी की ठेठ जातीय परम्परा को स्थापित किया, जिसका प्रतिनिधि उन्होंने भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल और निराला को माना है, लेकिन उन्होंने कोई नया सिद्धांत विवेचन नहीं किया। अपने समकालीन मार्क्सवादी आलोचकों के आचार्य शुक्ल विरोधी दृष्टिकोण का प्रतिवाद करते हुए उन्होंने शुक्लजी की विरासत और लोकवादी परंपरा का विकास किया और कहा कि आचार्य शुक्ल ने आलोचना के माध्यम से उसी सामंती संस्कृति का विरोध किया, जिसका उपन्यास और कविता के मध्यम से प्रेमचंद और निराला ने। शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त और रांगेय राघव ने मूलतः मार्क्सवादी सिद्धांतों का पक्ष-पोषण किया और उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। मुक्तिबोध ने साहित्य के अध्ययन को अंततः मानव सत्ता के अध्ययन के रूप में स्वीकृति और रचना प्रक्रिया के विश्लेषण पर जोर देते हुए 'कामायनी' का पुनर्मूल्यांकन करते हैं। नामवर सिंह के यहाँ मार्क्सवादी आलोचना का रचनात्मक और परिष्कृत रूप सामने आया। नामवर सिंह से छायावादी काव्य के उपनिवेश विरोधी और रुढ़िवाद विरोधी चरित्र का उद्‌घाटन किया और काव्य के नए प्रतिमानों का प्रश्न 'कविता के नए प्रतिमान' में उठाया जिस पर पश्चिम की रूपवादी आलोचना का गहरा प्रभाव है। मुक्तिबोध की रचनाओं पर गंभीर विवेचन भी सबसे पहले इसी पुस्तक में किया गया है। नामवर सिंह के वाद विश्वंभर नाथ उपाध्याय, रमेश कुंतल मेघ, शिवकुमार मिश्र और मैनेजर पाण्डेय ने मार्क्सवादी सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में कुछ साफ-सुथरी व्यावहारिक आलोचना के विकास में अहम योगदान किया है।

नयी समीक्षा

इस प्रगतिवादी आलोचना के समानांतर आलोचकों का एक समूह 'परिमल' से जुड़ा हुआ था, जिसका मुख्य केंद्र इलाहाबाद था। इस समूह के आलोचकों में धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, राम स्वरुप चतुर्वेदी और जगदीश गुप्त प्रमुख थे। राम स्वरुप चतुर्वेदी ने 'हिंदी नवलेखन', 'भाषा और संवेदना', 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन', 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' में आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक प्रतिमानों

और सूत्रों को ही नवीन भाषिक संवेदना और रचनाशीलता के सन्दर्भ में स्थापित करते है।। पचास के बाद हिंदी आलोचना पश्चिमुन्खता से भी प्रभावित हुई। इसके बावजूद इनमें अपने जातीय स्वरुप का आकर्षण बना रहा और अपने मूल की ओर लौटने की पुरजोर कवायद की, जिसका असर नयी कविता के काव्य-भाषा के विकास में देखा जा सकता है।

आलोचना के बढ़ते आयाम

छठे और सातवें दशक में हिंदी आलोचना कविता के आभा-मंडल से युक्त होते हुए भी कथा साहित्य, नाटक और अन्य विधाओं को लेकर स्वतंत्र आलोचनात्मक प्रतिमानों और सिद्धांतों की नवीन आधारभूमि की तलाश की ओर अग्रसर हुई और आजादी के साहित्य रचना और सामाजिक परिस्थितियों में हुए बदलाव को देखते हुए इसकी आवश्यकता महसूस की जा रही थी। इस दिशा में विजय देव नारायण साही की भूमिका प्रमुख है। आलोचकों के आलोचक के रूप में विख्यात साही ने तत्कालीन आलोचनात्मक विवादों में सजग हस्तक्षेप किया और न केवल पश्चिम और पूर्व के काव्यान्दोलनों के बुनियादी अंतर को रेखांकित किया। उन्होंने 'जायसी' में आग्रह किया कि जायसी को 'सूफी' के बजाय 'कवि' के रूप में देखा जाना चाहिए। आधुनिक आलोचकों में साही के अलावा डॉ. रघुवंश ऐसे आलोचक है जिन्होंने शमशेरबहादुर सिंह और विपिन कुमार अग्रवाल की समग्र समीक्षा करते हुए आधुनिक साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष को स्पष्ट किया और प्राचीन काव्यशास्त्र की आधुनिक साहित्य से संगति स्थापित किया

कथा समीक्षा के प्रति बढ़ता आग्रह

आलोचना की नयी दिशा की तलाश में दूसरा महत्वपूर्ण नाम देवीशंकर अवस्थी का है, जिन्होंने अपने अल्प-जीवन में 'विवेक के रंग' और 'नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति' की भूमिकाओं में किसी भी कृति की समीक्षा 'मूल्य-साँचें' अर्थात् साहित्यिक मूल्यों के आधार पर करने का आग्रह किया। अवस्थी जी ने सबसे पहले कहानी की समीक्षा के लिए काव्य-प्रतिमानों को लागू करने के खतरों से आगाह करते हुए उनसे इत्तर कुछ आलोचनात्मक बीज शब्दों का संकेत किया। बाद में नामवर जी ने 'कहानी, नयी कहानी' में काव्य प्रतिमानों के आधार पर कथा समीक्षा की एक नयी सैद्धांतिकी विकसित करने की कोशिश की।

उपन्यास आलोचना के प्रतिमानों और सूत्रों को व्यवस्थित करने में नेमिचंद जैन और डॉ. गोपाल राय का प्रमुख योगदान रहा है। हिंदी उपन्यास की आलोचना में सबसे महत्वपूर्ण योगदान नेमिचंद्र जैन और उनके 'अधूरे साक्षात्कार का है। इसमें उन्होंने हिंदी उपन्यास की मानवीय और कलात्मक सार्थकता की खोज की और अपने बहुस्तरीय अनुशीलन के द्वारा हिंदी उपन्यास के सामान्य स्वरूप और उसकी विविधता पर प्रकाश डाला।

नाट्य समीक्षा का बदलता स्वरुप

इस दौर में नाट्य समीक्षा में नेमिचंद जैन द्वारा संपादित नाटक केंद्रित 'नटरंग'की अहम भूमिका रही है। आजादी के पहले से ही नाटक साहित्यिक विधा से रंगमंचीय विधा के रूप में परिवर्तित होने लगा था। रंगमंच के अनुकूल नाटक की भाषा के सवाल उठाने का श्रेय विपिन कुमार अग्रवाल को है।

समकालीन आलोचना का परिदृश्य

सातवें दशक के बाद की आलोचना में काफी वैविध्य है।, लेकिन आलोचकों के अपने आग्रह, विचार और विविधता के बावजूद यह कोशिश दिखाई देती है कि अंतर्वस्तु और रचना शिल्प की दृष्टि से एक समावेशी और समेकित आलोचना दृष्टि का विकास किया जा सके। इस दौर के आलोचकों में मलयज, बच्चन सिंह, निर्मला जैन, विश्वनाथ त्रिपाठी, परमानन्द श्रीवास्तव, नन्दकिशोर नवल, रमेश चन्द्र शाह, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, नंदकिशोर आचार्य, प्रभाकर श्रोतिय, अशोक वाजपेयी और मैनेजर पाण्डेय आदि प्रमुख है। इनमें से अधिकांश छायावाद को अपनी आलोचना का प्रस्थान बिंदु बनाकर समकालीन कविता की आलोचना में अग्रसर होते हैं। मलयज 'कविता से साक्षात्कार' में आलोच्य कृति के 'वास्तविक मूल्यांकन की कुंजी' उसी कृति के भीतर तलाश पर जोर देते हैं, वे आलोचना में 'निर्मम तटस्थता' को अनिवार्य शर्त मानते हैं और स्वयं निर्ममता से अनुपालन भी करते हैं। निर्मला जैन आलोचना के लिए अनुसंधान, पांडित्य, सिद्धांत-निरूपण और इतिहास आदि को आलोचना के लिए उपयोगी मानते हुए वे ठेठ आलोचना को इनसे अलगाने पर जोर देती है। वे वैचारिक आग्रहों से मुक्त रहते हुए छायावाद को 'स्वछंदता का स्वाभाविक पथ' घोषित करती है। उन्होंने 'कुरु-कुरु स्वाहा', 'जिंदगीनामा' और 'जहाज का पंछी' उपन्यासों के मूल्यांकन में वे उपन्यास की रचना-प्रक्रिया को समझने पर जोर

देती है। विश्वनाथ त्रिपाठी एक ओर 'लोकवादी तुलसीदास' और 'मीरा का काव्य' में प्रगतिवादी आलोचना की एकांगिकता से बचाते हुए भक्तिकाव्य की लोकवादी-जनवादी मूल्य दृष्टि का अन्वेषण करते हैं तो दूसरी ओर 'देश के इस दौर में'परसाई की व्यंग्य दृष्टि की सार्थकता की खोज करते हुए उनके विचार-चित्रों की समानता मुक्तिबोध के काव्य-बिम्बों से स्थापित करते हैं। परमानन्द श्रीवास्तव मुख्यत: नई कविता के आलोचक है, और वे कविता में सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भों और संरचना के स्तर पर आए बदलाव को सजगता से परखते हैं। रमेश चन्द्र शाह सर्जनात्मक समीक्षा पर जोर देते है, और रचनाकार की सृजन प्रक्रिया का आत्मीय विश्लेषण आवश्यक मानते हैं, लेकिन उनकी आलोचना भाषा की दुरुहता उनकी आलोचना दृष्टि को बाधित करती है। मैनेजर पाण्डेय का आलोचनात्मक प्रखर है। उन्होंने यद्यपि आलोचना की कोई सैद्धांतिकी या पद्धति तो निर्मित नहीं की लेकिन उनके समीक्षात्मक लेखों और टिप्पणियों में एक ओर 'कला की, स्वायत्तता' और 'आलोचना के जनतंत्र' जैसे मूल्य निरपेक्ष कलावादी मान्यताओं का विरोध करते हैं तो दूसरी ओर वे उत्तर आधुनिकतावादी और उत्तर संरचनावादी आलोचना दृष्टि और पद्धति का भी विरोध करते हैं।

स्वाधीनता के बाद दलित चेतना का विकास भारतीय समाज की एक बड़ी परिघटना है। हिंदी साहित्य और आलोचना में नेमिषराय, तुलसी राम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ. धर्मवीर, कँवल भारती और श्योराज सिंह 'बेचौन' आदि ने दलित चिंतन की सैद्धांतिकी और सौन्दर्यशास्त्रीय विकास की दिशा में पर्याप्त कार्य किया है।

दृष्टि और प्रवृत्तियाँ

हिंदी साहित्य और संवेदना के विकास क्रम में उसके मूल्यांकन की प्रक्रिया में भी बदलाव हुआ और हिंदी आलोचना नवीन मानदंडों और नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात करती गई जिसके फलस्वरूप आलोचना की नवीन दृष्टियों और प्रवृत्तियों का विकास होता गया।

सौष्ठववादी या स्वच्छंदतावादी दृष्टि– साहित्य की जड़ता, कृत्रिमता, रुढियों तथा अप्रासंगिक होती हुई लेखन परम्पराओं से विद्रोह स्वच्छंदतावादी दृष्टि की मूलभूत विशेषता है। स्वच्छंदतावादी आलोचना में वैयक्तिकता, आत्म सृजन, कल्पनाशीलता और स्वानुभूति को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया

गया है। इसलिए रचनाकार की अंतर्वृत्तियों का अध्ययन अनिवार्य मानते हैं। स्वच्छंदतावादी प्रभाव से हिंदी आलोचना किसी बंधे-बंधाये ढाँचे में नहीं, बल्कि नाना रूपों में प्रकट हुई।

मार्क्सवादी दृष्टि- हिंदी आलोचना को स्वच्छंदतावादी आत्मभिव्यक्ति की परिधि से निकालकर मार्क्सवाद और यथार्थवाद ने उसका संबंध फिर से बाह्य जगत और मानवीय एवं सामाजिक सरोकारों से जोड़ा और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की।

मनोविश्लेषणवादी दृष्टि- मनोविश्लेषणवादी दृष्टि या मनोविज्ञान के प्रभाव से हिंदी आलोचना में रचनाकारों के अंतर्मन के विश्लेषण की प्रवृत्ति का होने लगाद्य

रसवादी दृष्टि- वैसे तो संस्कृत काव्यशास्त्र की मूल दृष्टि रसवादी ही रही है, लेकिन आचार्य शुक्ल ने रसवादी चिन्तन को लोकमंगल से जोड़ते हुए हिंदी आलोचना की प्रवृत्ति को नयी दिशा दी। बाद में नन्द दुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र इस रसवादी प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया।

नयी समीक्षा- यह अनेक दृष्टियों और प्रवृत्तियों की समाहार वाली आलोचना है, लेकिन समाहार रूप में नयी समीक्षा आज के परिवेश में एक नयी परंपरा निर्माण की आकांक्षी है।

अस्तित्त्ववादी दृष्टि- अस्तित्त्ववादी दृष्टि के प्रभाव से हिंदी आलोचना में व्यक्ति की अस्मिता, उसके अस्तित्त्व पर संकट, क्षणिक अनुभव, उसके आन्तरिक सत्य के उद्‌घाटन की प्रवृत्ति विकसित हुई। अज्ञेय, धर्मवीर भारती और डॉ. रघुवंश जैसे आलोचकों के यहाँ अस्तित्त्ववादी प्रभाव देखा जा सकता है।

आधुनिकतावादी दृष्टि- आधुनिकतावादी दृष्टि के कारण हिंदी आलोचना में साहित्य में वस्तु यथार्थ के ऊपर अनुभव की प्रामाणिकता, परंपरा और शास्त्रीय नियमों के बजाय प्रयोग और नवीनता, सत्यता के बजाय ईमानदारी और गतिशील मानव चेतना एवं व्यापकता से अधिक गहराई पर बल देनी की प्रवृत्ति पायी गई।

इन दृष्टियों के आलोक में हिंदी आलोचना की प्रवृत्तियों में भी बदलाव होता गया। भारतेंदु युग में रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परंपरा में सैद्धांतिक आलोचना के अतिरिक्त ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली गद्य में लिखी गई टीकाओं और इतिहास ग्रंथों में कवि-परिचय के रूप में आलोचना का सूत्रपात हुआ। रचना को समझने और समझाने की प्रक्रिया में विकसित होने के कारण हिंदी आलोचना

हिंदी साहित्य की मुक्तिकामी चेतना के अनुकूल रीतिवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद, कलावाद और अभिजात्यवाद विरोधी और स्वच्छंदताकामी रही है। यह वह प्रवृत्ति है, जो हिंदी आलोचना के आरम्भ काल से लेकर वर्तमान समय तक सदैव विद्यमान रही है। द्विवेदी युग में हिंदी साहित्य की इतिवृत्तात्मकता के आलोचना इतिवृत्तात्मक और गुण-दोष कथन तक की सीमित रही। द्विवेदी-युगीन और भारतेंदु-युगीन साहित्य की ही भाँति प्रेरणा देने का कार्य अधिक करता है। उस काल की प्रधान दृष्टि यही थी, आलोचना भी इस दृष्टि से प्रभावित थी। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य को "ज्ञान राशि के संचित कोष" के रूप में परिभाषित करते हुए ज्ञान की साधना को आलोचना से जोड़ा। हिंदी आलोचना को वैचारिक स्व रूप आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने दिया। आलोचना की भाषा और सौन्दर्यशास्त्र के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा विकसित और अर्जित भाषा उन्हें युग प्रवर्तक आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "कविता का उद्देश्य हृदय को लोक-सामान्य की भावभूमि पर पहुंचा देना है" कहकर लोक धर्म या लोक-मंगल के आदर्श को साहित्य ही नहीं आलोचना का भी केन्द्रीय प्रतिमान घोषित करते हैं और इस प्रकार साहित्य और समीक्षा दोनों ही सामजिक चेतना के उत्तरदायित्व से युक्त होती है।

शुक्ल जी तैयार दृढ़ आलोचना भूमि परवर्ती आलोचना विविध पद्धतियों और अलग-अलग दिशाओं में अग्रसर हुई। कुछ अनेक आलोचकों की बहुआयामी सक्रियता को देखते हुए किसी एक वर्ग में रख पाना शुक्लोत्तर युग में संभव नहीं रहा। अब तक चली आ रही आलोचनात्मक पद्धतियों से हटकर मार्क्सवादी आलोचना, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना, शैलीवैज्ञानिक आलोचना और नई आलोचना जैसी नवीन पद्धतियों का विस्तार हुआ। मार्क्सवाद के प्रभाव से हिंदी आलोचना आज सभ्यता समीक्षा का रूप धारण कर सकी है, जबकि मनोविश्लेषण द्वारा रचनाकार के अन्तर्मन का विश्लेषण भी हिंदी आलोचना का प्रमुख अंग बना गया। समकालीन आलोचना के दौर में एक ओर कलावादी रुझानों की सक्रियता है और उसकी पुनर्स्थापना के प्रयासों में तेजी आयी है, वही साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का भी विकास हुआ है और साहित्य के समाज और राजनीति से अन्त:संबंधों को नए सिरे से परिभाषित करने के प्रयास भी लक्षित किए जा सकते है। इस बीच अच्छी बात यह हुई कि अब आलोचना केवल कविता-केंद्रित आलोचना न रहकर उपन्यास, कहानी, नाटक, रंगमंच,

निबंध, रेखाचित्र आदि सभी गद्य विधाओं को साथ लेकर बढ़ने व पनपने लगी। इस स्थिति ने हिंदी-आलोचना का सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर क्षेत्र काफी विस्तृत कर दिया है। हिंदी-आलोचना में गुणात्मक और सर्जनात्मक दोनों परिवर्तन साथ-साथ हुआ।

आलोचना के प्रकार

आलोचना के दो प्रकार हैं- सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना

सैद्धांतिक आलोचना- साहित्य संबंधी सामान्य सिद्धांतों पर विचार किया जाता है। ये सिद्धांत शास्त्रीय भी हो सकते हैं और ऐतिहासिक भी। शास्त्रीय सिद्धांतों का स्वरूप स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है। ऐतिहासिक सिद्धांतों का स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है।

व्यावहारिक आलोचना-जब सिद्धांतों के आधार पर साहित्य की समीक्षा की जाय, तो उसे व्यावहारिक आलोचना कहा जाता है। व्यावहारिक आलोचना कई प्रकार की हो सकती है-

व्याख्यात्मक आलोचना- गूढ़ गंभीर साहित्य रचना के विषय, उसकी भाषा, शिल्प को सरल.सुबोध भाषा में स्पष्ट करना।

जीवन चरितमूलक आलोचना- इसके अंतर्गत रचनाकार के व्यक्तित्त्व, उसके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ, पर्यावरण, हाव-भाव, रूचि और शैली आदि तथ्यों को ध्यान में रखकर आलोचना की जाती है। जैसे-डॉ. रामविलास शर्मा की 'निराला की साहित्य साधना' और डॉ. नगेन्द्र का 'सुमित्रानंदन पन्त'।

ऐतिहासिक आलोचना- इसके अंतर्गत वे आलोचनाएँ आती हैं जिनमें किसी रचना का मूल्यांकन रचनाकार की जाती, वर्ग और उसके समाज के आधार पर किया जाता है। इस आलोचना पद्धति का आरंभ प्रसिद्ध इतिहासकार ने किया था। यह हिंदी आलोचना की अमूल्य निधि है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर और नाथपंथियों का मूल्यांकन इसी आलोचना पद्धति से किया है।

प्रभाववादी आलोचना- प्रभाववादी आलोचना में आलोचक कृति द्वारा उत्पन्न प्रभाव की मार्मिक आलोचना करने में तत्पर होता है। तटस्थ दृष्टि का इसमें प्रायः अभाव होता है। उपाधि ग्रहण के लिए लिखे जाने वाले शोध प्रबंध और लघु शोध प्रबंध प्रायः इसी कोटि में आते हैं। आचार्य शुक्ल ने इस 'ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं' माना है।

तुलनात्मक आलोचना- जब किसी रचनाकार या रचना की तुलना किसी अन्य रचनाकार या रचना या किसी दूसरी भाषा के साहित्य से की जाए तो तुलनात्मक आलोचना होती है।

शैली वैज्ञानिक आलोचना- यह आलोचना भाषिक संरचना पर विशेष बल देने के कारण शैली वैज्ञानिक आलोचना के रूप में प्रतिष्ठित हुई। डॉ. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. नगेन्द्र, भोलानाथ तिवारी और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी प्रमुख शैली वैज्ञानिक आलोचक हैं।

मिथकीय आलोचना- मिथकों के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। इस आलोचना में मनोविज्ञान का प्रभाव लक्षित होता है। इसके अंतर्गत साहित्य का मूल मानव वृत्तियों के साथ सहजात संबंध स्थापित करके उसे एक व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित किया जाता है।

निर्णयात्मक आलोचना- जब निश्चित सिद्धांतों के आधार पर साहित्य के गुण-दोष या श्रेष्ठता-निकृष्टता का निर्णय किया जाता है। इसे नैतिक आलोचना भी कहा जाता है। ऐसी आलोचना में सैद्धांतिक यांत्रिकता अधिक होती है।

समन्वयवादी आलोचना- अनेक प्रवृत्तियों और पद्धतियों के समाहार पर आधारित आलोचना है। आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य 'कला के लिए' और संस्कृत काव्यशास्त्र में समन्वय स्थापित कर आलोचना को समन्वयवादी स्वर देने की शुरुआत की थी। 'विरुद्धों का सामंजस्य' सूत्र इसी समन्वय की देन है।

आलोचक के गुण

किसी भी आलोचक के लिए सबसे अहम उसका आलोचनात्मक विवेक होता है। इस गुण के बिना आलोचक कवि या काव्य की आत्मा में प्रवेश ही नहीं कर सकता है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के शब्दों में आलोचक में 'कवि की अंतर्वृत्तियों के सुक्ष्म व्यवच्छेद की क्षमता होनी चाहिए। चूकि किसी भी रचना की तरह आलोचना भी पुनर्रचना होती है, अत: जिस भाव-भंगिमा, मुद्रा और तन्मयता के साथ कवि ने अपने काव्य की रचना की है, उसमें उतनी ही संवेदनशीलता और सहानुभूति के साथ प्रवेश कर जाने वाला पाठक ही सच्चा आलोचक होता है। आलोचक का दूसरा महत्वपूर्ण गुण सहृदयता है। आलोचक के अन्य गुण उसकी सहृदयता के होने पर ही सहायक हो सकते हैं। सहृदय होकर ही आलोचक किसी रचना से रचनाकार की समान अनुभूति से जुड़ सकता

है। समीक्षक को आलोच्य रचना या कृति के उत्कृष्ट या मार्मिक स्थल की पहचान कर उसको प्रमुखता देना चाहिए। अर्थात् आलोचक में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिए।

इन अनिवार्य गुणों के अतिरिक्त आलोचक में निष्पक्षता, साहस, इतिहास और वर्तमान का सम्यक ज्ञान, संवेदनशीलता, अध्ययनशीलता और मननशीलता भी होनी चाहिए। निष्पक्षता से तात्पर्य यह है कि आलोचक को अपने आग्रहों से मुक्त होना चाहिए। आलोचक के आग्रह, अहम या उसकी इच्छाएं और भावनाएँ निष्पक्ष आलोचना में बाधा बनती है। किसी भी रचना के मूल्यांकन में अपनी बातों को तर्कसंगत और तथ्यपरक ढंग से रखना आलोचक के लिए आवश्यक है, भले ही उसकी स्थापनाएँ पूर्व स्थापित मान्यताओं और सिद्धांतों के प्रतिकूल क्यों न पड़ती हो। ऐसी स्थापनाओं के लिए आलोचक में व्यापक अध्ययन एवं देशी-विदेशी साहित्य और कलाओं का ज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही अतीत की घटनाओं, परिस्थितियों और परम्परा एवं वर्तमान के परिवेश का सम्यक ज्ञान होना चाहिए। तभी वह रचना की युगानुकूल व्याख्या कर सकता है। वर्तमानता या समकालीनता से जुड़कर ही कोई आलोचक अपनी दृष्टि को अद्यतन बनाये रखता है। इसके बजाय विदेशों के समीक्षा ग्रंथों से उद्धरण देकर वाम विदेशी समीक्षकों के नाम गिनकर पाठकों को कृति से मुखातिब कराने के स्थान पर उन पर अपने पांडित्य की धाक जमाने की कोशिश आलोचक का गुण नहीं है। आलोचक को किसी सामान्य तथ्य या तत्त्व तक पहुँचने की जल्दबाजी नहीं होनी चाहिए बल्कि रचना के अक्षय स्रोत को बचाए रखने का गुण भी होना चाहिए।

आलोचना का महत्त्व

राम स्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार रचना यदि जीवन का अर्थ विस्तार करती है तो आलोचक रचना का अर्थ विस्तार करता है। दूसरे शब्दों में जीवन के अंतर्द्वद को देखने-परखने में आलोचना दीपक की भूमिका निभाती है। आलोचना रचनात्मक संकेतों को सामाजिक अनुभवों के आलोक में 'डी-कोड' करती है। इस तरह जहाँ रचनाकार की रचनाशीलता विराम लेती है, वहीं से आलोचक का कार्य प्रारंभ होता है। किसी भी साहित्य की आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता और प्रसंगानुकूलता में संभव होती है, तभी आलोचना की सार्थकता और साथ ही साथ रचना की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है और इस प्रसंगानुकूलता और सापेक्षता की तलाश में आलोचना की सामाजिकता या सामाजिक उत्तरदायित्व

का प्रश्न उभरता है, अत: आलोचना साहित्य का शास्त्र नहीं है, बल्कि साहित्य का जीवन है, जो बदलते सामाजिक सन्दर्भों में बार-बार रचा जाता है। इस प्रकार आलोचना परखे हुए को बार-बार परखती है और जीवन-संबंधों के विकल्प की तलाश में साहित्य और आलोचना की सह-यात्रा जरी रहती है।

आलोचना का संबंध एक साथ इतिहास और सामाजिक विमर्श दोनों से होता है। इतिहास में परिवर्तन की दिशा और संवेदना की पहचान करने, उसका विश्लेषण करने, उस परिवर्तन के कारणों और पड़ावों की पहचान करने और उसे अपने तत्कालीन समाज से जोड़ने की दृष्टि से आलोचना का व्यापक महत्व है। सामाजिक विमर्श के रूप में आलोचना के मूल्य सामाजिक मूल्य से भी संबंधित होते है। आलोचक जब इतिहास के साथ ही समाज, राजनीति, धर्म, नैतिकता और अर्थव्यवस्था के प्रश्नों से भी टकराता है तो इस टकराहट में वह साहित्य के मूल्य भी निर्मित करता है। मनुष्य के जातीय जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण करने में आलोचना का महत्त्व समझ में आता है। आलोचना से सहृदय को साहित्य के प्रमाणिक अनुशीलन की सुविधा प्राप्त होती है। सहृदय की रस ग्रहण क्षमता का परिष्कार करने के लिए उसकी संवेदनाओं को जागृत करने में आलोचना का अहम महत्त्व है। इससे कृतिकार को उत्साह, विचारों की प्रौढ़ता, रचनात्मक विचारों और शिल्प एवं भाषा के परिमार्जन और परिवर्द्धन की प्रेरणा मिलती है, जबकि पाठक की बोध-वृत्ति का भी परिष्कार होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि हिंदी आलोचना अपने आरम्भ से सामाजिक सरोकारों से गहरे स्तर पर जुड़ी हुई है। युगीन हलचलों, वैचारिक द्वंद्वों, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-धार्मिक-नैतिक-राष्ट्रीय चिंताओं के सापेक्ष आलोचना के स्वरुप में भी व्यापक बदलाव हुआ है। सबसे अहम् यह कि हिंदी आलोचना रचनात्मक साहित्य के नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं और नवीन सामाजिक सरोकारों से टकराते हुए विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृत्तियों से युक्त होती चलती है। आलोचना के महत्त्व को मनुष्य के जातीय जीवन और उसकी संस्कृति से जोड़कर साहित्य का विश्लेषण करने की प्रक्रिया में ही हम समझ सकते हैं। किसी भी साहित्य की आलोचना अपने समय और समाज की सापेक्षता और प्रसंगानुकूलता में संभव होती है, तभी आलोचना की सार्थकता और साथ ही साथ रचना की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है।

2

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग में कई साहित्यिक विधाओं का नवीनीकरण हुआ। इनमें से एक आलोचना भी थी। भारतेन्दु का व्यक्तित्त्व भारतीय पुनर्जागरण का साहित्यिक प्रतीक और हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के प्रर्वतन का सूचक था, उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक नये मार्ग पर खड़ा किया 'भारतेन्दु का पूर्ववर्ती काव्य साहित्य सन्तों की कुटिया से निकालकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुंच गया था, उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोकजीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया।

भारतेन्दु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढांचे से सन्तुष्ट न रहकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है। जीवन को समझने-बूझने और दिखने की भारतेन्दु की निश्चित दृष्टि है, साहित्य को वे वृहत्तर जीवन की संगती में देखते हैं, उसमें अलग या बाहर नहीं। 1874 ई. में उन्होंने विलायती कपड़े का बहिष्कार करने का व्रत लिया था और देशवासियों को भी ऐसा करने की प्रेरणा दी थी। भारतेन्दु स्वदेशी आंदोलन के ही अग्रदूत न थे। वे समाज-सुधारकों में स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, विदेश यात्रा आदि के समर्थक थे।

पहले कहा गया है कि भारतेन्दु पुनर्जागरण के प्रतीक या प्रतिनिधि साहित्यकार थे। जागरण का पहला लक्षण आंखों का खुलना है। आंखें खोलकर जाग्रत व्यक्ति अपने आस-पास को देखता है। अपनी स्थिति का निश्चय करता है और तदनुसार उधोग में लग जाता है। यानी यथार्थबोध जाग्रत व्यक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। इस प्रकार यथार्थ-बोध, बिषमता-बोध और इस बिषमता से उबरने की छटपटाहट ये वे तीन भेदक लक्षण हैं, जो भारतेन्दु युग को रीतिकालीन साहित्य से अलग करते हैं और इन्हीं कारणों से भारतेन्दु युग हिन्दी के आधुनिक साहित्य का प्रर्वतक युग है।

हिन्दी आलोचना का इतिहास रीतिकाल के थोड़ा पहले शुरू होता है। सच तो यह है कि रीतिकाल का रीतिबद्ध साहित्य रीतिवादी आलोचना से प्रभावित है, और लक्षणों के उदाहरण रूप में रचा गया है। रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों का उपजीव्य संस्कृत का काव्य-शास्त्र है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय 1. भामह, उद्‌भट का अलंकार संप्रदाय, 2. कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय 3. वामन का रीति सम्प्रदाय 4. आनन्दवर्धन का ध्वनि सम्प्रदाय। रीतिकाल में हिन्दी का जो काव्यशास्त्र रचा गया,वह इन्हीं सम्प्रदायों की नकल पर। कहा जाता है कि 'हिमतरंगिणी' के लेखक कृपाराम हिन्दी के सर्वप्रथम काव्यशास्त्री थे। उन्होंने 16 वीं. शताब्दी में ही थोड़ा बहुत रस-निरूपण किया था, लेकिन हिन्दी में काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले-पहल आचार्य केशव ने ही किया। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन काव्य शास्त्र की सिमाओं की ओर संकेत करते हुए लिखा है- इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन-शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग दोहे में अपर्याप्त लक्ष्ण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही अत: पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क-वितर्क नहीं हो सकता।

ये लक्षण ग्रन्थ रसवादी दृष्टि से लिखे गए थे और रस युक्त वाक्य को ही काव्य मानते थे। डॉ. रामविलास शर्मा के निबन्ध 'बालकृष्ण भट्ट और हिन्दी आलोचना का जन्म' नामक अध्याय में भट्टजी के 'साहित्य जन-समूह का विकास है,' का उल्लेख किया है। लेखक के नाम से ही भट्टजी का आधुनिक दृष्टिकोण प्रकट हो जाता है, अत: जनसमूह के हृदय की भावनाओं का आग्रह करके ही हिन्दी की आलोचना रीतिकालीन केंचुल उतारकर आधुनिक बनी। पं.

रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक युग को गद्य युग कहा। नाटक, पत्र-पत्रिका, उपन्यास, कहानी इन सबमें गद्य सहसा साहित्य पर फट पड़ता है। देखनेवालों में यह बात छिपी नहीं रह सकती कि वैचारिकता गद्य में तो है ही, कविता में भी है। कारण यह है कि इस काल का समूचा साहित्य प्रधानतः विचारपरक और इतिवृत्तात्मक है।

भारतेंदु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जनरूचि एवं प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है। उन्होंने बदली हुई जनरूचि के अनुसार नाट्यरचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है। यद्यपि भारतेन्दु युग में विशिष्ट साहित्यांग के रूप में आलोचना का उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ, किन्तु आलोचना दृष्टि का भरपूर विकास हुआ। यह दृष्टि पत्र-पत्रिकाओं के मध्यम से विकसित होती दिखाई पड़ती है। हरिश्चन्द्र मैंगनीज, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, भारतमित्र, सारसुधानिधि, बाह्मण आदि विविध बिषयों पर लिखित टिप्पणियां हैं। आलोचना के अन्तर्गत किसी सम्पूर्ण कृति के गुण-दोषों की समीक्षा का कार्य हिन्दी में चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमघन' और बालकृष्ण भट्ट द्वारा प्रारम्भ हुआ।

प्रेमघनजी ने लाला श्रीनिवासदास के नाटक संयोगिता स्वयंवर की समालोचना आनन्द कादम्बिनी में और हिन्दी प्रदीप में बालकृष्ण भट्ट ने सच्ची समालोचना नामक शिर्षक में किया। आलोचना जितनी सच्ची थी उतनी ही कटु, भट्टजी ने ऐतिहासिक आख्यानों के साहित्यिक उपयोग, देशकाल, पात्रों की स्वाभाविकता और रचना की जीवंतता इन सब बातों के आधार पर किये। वे कहते हैं- क्या केवल किसी पुराने समय ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने, विख्यात राजा या रानी के आने से ही वह ऐतिहासिक हो जाएगा। यदि ऐसा है तो गप्प हांकनेवाले दास्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा।

भट्टजी ने श्रीधर पाठक के द्वारा अनूदित गोल्डस्मिथ की कृति 'हरमिट' की भी समालोचना 'हिन्दी प्रदीप में की थी। यह समालोचना प्रशंसाकी थी, जिसमें भट्टजी का भिन्न रूप प्रकट होता है। हम हिन्दी भाषियों के लिए अंग्रेजी बड़े काम की है, इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु हमारी भावनाओं की अभिव्यक्ति अपनी भाषा में ही हो सकती है। हमारे मित्र पाठक महाशय ने अपने इस परिश्रम से हमें अच्छी तरह जता दिया कि कविता के पश्चिमी संस्कार हमारे लिए मनोरंजन और दिलचस्प नहीं हो सकते, अंग्रेजी अत्यंत विस्तृत भाषा और उन्नति

के शिखर पर चढ़ी हुई है, परन्तु कविता के अंश में हमारी देशी भाषाओं से कभी होड़ नहीं कर सकती। 'हरमिट' का मूल रूप हमें उतना अच्छा न लगे, किन्तु अंग्रेजों को उसी प्रकार प्रिय होगा जैसे हमें उसका अनुवाद या अपनी भाषा की कोई अन्य अच्छी कृति। आगे चलकर आलोचना का स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट हुआ। यह कार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और इनके युग के अन्य लेखकों द्वारा हुआ।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से माना जाता है। साहित्य के इतिहास में इसे गद्य-काल के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः भारतेन्दु युग हिन्दी में विविध गद्य विधाओं के प्रवर्तन का काल है। भारतेन्दु को हिन्दी में नवजागरण का अग्रदूत माना जाता है। वे एक व्यक्ति से बढ़कर संस्था थे। उन्होंने अपने समानधम लेखकों का मण्डल तैयार किया, जिसे 'भारतेन्दु मण्डल' के नाम से जाना जाता है। अपने समय के रचनाकारों के साथ मिलकर उन्होंने हिन्दी साहित्य में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। यह नवीन युग काल, प्रवृत्ति, चेतना, विधा हर दृष्टि से नया था। नवीन युग की नई चेतना और विधा के वाहक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। इनका समय सन् 1850 से 1885 तक है। इसीलिए सामान्य तौर पर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध को साहित्य में भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है।

भारतेन्दु युग और नवीन चेतना

नई चेतना के कारण भारतेन्दुयुगीन साहित्य हिन्दी की रीतिकालीन चेतना से मुक्त हुआ। यह नई चेतना आधुनिकता से सम्पृक्त थी। आधुनिक चेतना के निर्माण और विकास में युगीन परिस्थितियों का योगदान है। भारत में अंग्रेजों का वर्चस्व 18वीं सदी के उत्तरार्ध में बढ़ गया। भारत के परम्परागत उद्योगों को अंग्रेजों ने नष्ट कर दिया। उन्होंने भारत की कृषि व्यवस्था पर नियन्त्रण स्थापित कर किसानों पर लगान का बोझ बहुत बढ़ा दिया। भारत के आर्थिक शोषण और सैन्य नियन्त्रण के लिए सुदूर प्रदेशों तक रेल की पटरियाँ बिछा दी। देशी नरेशों से समझौता करके उनके शोषण को अंग्रेजों ने बढ़ावा दिया। भारत पर अंग्रेजों के बढ़ते आर्थिक शोषण और राजनीतिक नियन्त्रण के खिलाफ सन् 1857 का व्यापक विद्रोह हुआ। इसे भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के रूप में जाना जाता है।

भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों पर युगीन स्थितियों का स्पष्ट प्रभाव है। भारतेन्दुयुगीन लेखकों को रीतिकालीन अतिशय शृंगारिक चित्रण,

नायिका-भेद, नख-शिख, चमत्कार-प्रदर्शन आकृष्ट नहीं करते। इस युग के लेखक देश की दुर्दशा पर चिन्तित होते हैं। इनके साहित्य में देशानुराग कूट-कूट कर भरा है। एक नए तरह की राष्ट्रीय चेतना के प्रथम स्वर हमें भारतेन्दुयुगीन साहित्य में परिलक्षित होते हैं। भारतेन्दुयुगीन साहित्य में चेतना के दो रूप स्पष्ट तौर पर मिलते हैं—राष्ट्रीय और सामाजिक। राष्ट्रीय चेतना का स्वर अंग्रेजी राज और खास तौर पर उसके द्वारा किए जा रहे आर्थिक शोषण का विरोध करता है। सामाजिक चेतना का स्वर भारतीय समाज में फैली तमाम बुराइयों और रूढ़ियों का विरोध करता है। बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, नारी अशिक्षा, धार्मिक पाखण्ड जैसी सामाजिक कुरीतियों का खण्डन भारतेन्दुयुगीन साहित्य का प्रधान लक्ष्य है। भारतेन्दु सच्चे अर्थों में हिन्दी साहित्य में नवजागरण के अग्रदूत थे।

भारतेन्दु युग के बारे में हिन्दी के महान आलोचकों के मतों को संक्षेप में देखना समीचीन है। रामचन्द्र शुक्ल के हवाले से विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है "भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य को एक नए मार्ग पर खड़ा किया। वे हिन्दी साहित्य के नए युग के प्रवर्तक हुए, यद्यपि देश में नए-नए विचारों और भावनाओं का संचार हो गया था, पर हिन्दी उनसे दूर थी।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका सटीक विश्ष्लेषण करते हुए लिखा है—"भारतेन्दु का पूर्ववर्ती काव्य साहित्य सन्तों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुँच गया था, उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोकजीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया।" डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेन्दुयुगीन साहित्य को 'गदर' से प्रभावित मानते हुए उसके जनवादी स्वरूप को स्पष्ट किया है। उनके शब्दों में भारतेन्दु युग का साहित्य "भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से सन्तुष्ट न रहकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है। भारतेन्दु स्वदेशी आन्दोलन के ही अग्रदूत न थे, वे समाज सुधारकों में भी प्रमुख थे।" नवजागरण और आधुनिकता की चेतना से सम्पृक्त भारतेन्दुयुगीन साहित्य सचमुच हिन्दी साहित्य में एक नवीन युग का सूत्रपात करता है। नवीन युग की वैज्ञानिक चेतना, यन्त्रों के विकास के साथ छापेखानों की मशीनों के प्रचलन, बढ़ते औद्योगीकरण, नगरीकरण, राष्ट्रीय-राज्यों के उदय जैसी परिस्थितियों ने हिन्दी साहित्य के गद्य को बढ़ावा दिया। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हिन्दी साहित्य

के गद्य का ठीक से प्रादुर्भाव हुआ। यह गद्य साहित्य उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक इतना प्रभावी हुआ कि वह कविता से अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठा।

भारतेन्दु युग में पद्य पर गद्य की प्रधानता का बड़ा कारण गद्य में नवीन विधाओं का प्रादुर्भाव भी है। भारतेन्दु युग में नाटक के पुनर्प्रचलन और कथारूपों के नवागत प्रयोगों के साथ निबन्ध, आलोचना, पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादकीय जैसे नवीन गद्य रूपों का विकास हुआ।

हम जानते हैं कि भारतेन्दु युग से पूर्व का हिन्दी साहित्य प्रायः कविता का साहित्य है। आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल का समूचा साहित्य प्रायः कविता का है। छिटपुट गद्य के नमूने मिलते हैं, लेकिन वे बहुत कम हैं। भारतेन्दु युग से ठीक पूर्व, अर्थात उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में फोर्ट विलियम कालेज के भाषा प्राध्यापकों के लेखन से हिन्दी साहित्य में गद्य के विकास की वास्तविक नींव पड़ी। ये भाषा प्राध्यापक थे–सदल मिश्र, सदासुखलाल, लल्लू लाल और इंशा अल्ला खां। इनके अतिरिक्त रामप्रसाद निरंजनी, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह के नाम हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय है। आगे भारतेन्दु युग में विकसित हिन्दी साहित्य की मूल चेतना और प्रवृत्तियों के विकास और स्वरूप की चर्चा की जाएगी।

भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

भारतेन्दु युग की यह विलक्षण सच्चाई है कि इस युग में रचित गद्य साहित्य की भाषा खड़ीबोली है, जबकि कविता की भाषा प्रायः ब्रजभाषा। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने प्रायः ब्रजभाषा में ही कविता की। भारतेन्दु ने खड़ीबोली में कविता करने की कोशिश की, परन्तु वे उससे सन्तुष्ट नहीं थे। इसे स्वीकार करते हुए भारतेन्दु ने लिखा है–"मैंने आप कई बार परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं।" भारतेन्दु उर्दू में 'रसा' नाम से कविता करते थे। ध्यातव्य है कि भारतेन्दुयुगीन ब्रजभाषा रीतिकालीन ब्रजभाषा से भिन्न है। भारतेन्दुयुगीन ब्रजभाषा पर युगीन नवीन चेतना, वैचारिकता और गद्यात्मकता का प्रभाव है। भारतेन्दुयुगीन कविता की ब्रजभाषा का गठन खड़ीबोली के काव्य गठन के अनुरूप है।

भारतेन्दु ने भक्तिपरक और रीतिपरक दोनों तरह की कविताएँ की हैं, लेकिन उनकी कविताओं में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का स्वर प्रधान है। भारतेन्दु युग में जीवन, समाज और देश की समस्याएँ कविता की विषय बनीं।

भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों ने तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा भारत के आर्थिक दोहन और शोषण को उजागर किया। भारतेन्दु द्वारा रचित प्रसिद्ध पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

अंगरेज राज सुख-साज सजे सब भारी
पै धन विदेस चलि जात इहै अति वारी।

भारतेन्दु ने युगीन चेतना के अनुरूप देश की दुर्दशा का चित्रण कर राष्ट्रीय चेतना पैदा करने का स्तुत्य प्रयास किया। भारत की जातीय चेतना के रूप में उन्होंने भाषा-समस्या पर विचार करते हुए लिखा है–

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल।

यद्यपि भारतेन्दु की कविता में देशभक्ति के साथ कहीं-कहीं राजभक्ति का भी संयोग मिलता है, लेकिन उनमें देशभक्ति और नवजागरण की चेतना का स्वर प्रधान है। इस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण कवि प्रतापनारायण मिश्र ने भारत के आर्थिक शोषण को उजागर करते हुए अंग्रेजी की पोल खोली। उनकी कविताओं में क्षोभ का स्वर मार्मिक है। देशभक्ति परक कविताओं में उनकी व्यंग्य की मारक क्षमता देखते बनती है–

जग जाने इंग्लिश हमें, वाणी वस्त्रहि जोय।
मिटै वदन कर श्याम रंग, जन्म सुफल तब होय।

देशवासियों पर व्यंग्य करते हुए प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा–"सर्वसु लिए जात अंगरेज हम केवल लेक्चर की तेज।" बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन इस युग के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनकी कविता में गाँव प्रधान है। जीर्ण जनपद या दुर्दशा दत्तापुर में उन्होंने गाँव की दुर्दशा का यथार्थवादी वर्णन किया है। बच्चन सिंह के अनुसार–"लघु खण्डकाव्य लिखने की शुरुआत यहीं से होती है।" भारतेन्दु युग के अन्य कवियों में जगमोहन सिंह स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति और प्रकृति चित्रण के लिए उल्लेखनीय हैं।

युगीन चेतना से इतर भक्तिपरक और रीतिपरक ब्रजभाषा कविता का रूप भी भारतेन्दु युग में प्रचलित रहा है। उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु की भाषा सरल, सहज होने के साथ ब्रजभाषा की बहुत-सी रूढ़ियों से मुक्त है। इस युग में कवियों ने लोकप्रचलित काव्यरूपों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। भारतेन्दु ने अमीर खुसरो जैसी पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखीं। प्रतापनारायण मिश्र ने लावनी, आल्हा लिखा। भारतेन्दु की मुकरियाँ खड़ीबोली में हैं। गद्य-पद्य की

भाषा का अलगाव इस युग की खटकने वाली सच्चाई है, किन्तु यह अधिक दिन चलने वाला नहीं था। भारतेन्दु युग के अन्त तक श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली में एकान्तवासी योगी (1886) और जगत सच्चाई सार (1887) लिखकर यह संकेत दे दिया कि भविष्य में कविता की भाषा खड़ीबोली ही बनेगी। द्विवेदी युग में यह चरितार्थ होते दिखा।

भारतेन्दु युग के सन्दर्भ में रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा–"विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।" इसका जरूरी प्रतिवाद करते हुए बच्चन सिंह ने लिखा है कि "विलक्षण बात तब होती जब यह प्रवर्तन नाटकों से न होता।" वस्तुतः भारतेन्दु युग से पहले का हिन्दी साहित्य रीतिकालीन प्रवृत्तियों से युक्त दरबारी अधिक था। समाज की व्यापक समस्याओं से उसका कुछ खास सरोकार न था। भारतेन्दु ने अपने युग के हिन्दी साहित्य को नवजागरण की चेतना के साथ वृहत्तर सामाजिक समस्याओं से जोड़ा। नाटक लोकजागरण का सशक्त माध्यम है। भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों ने युगीन चेतना के प्रकटीकरण के लिए नाटक विधा का बखूबी इस्तेमाल किया। विधाओं के विकास के रूप में नाटकों का पुनर्प्रचलन भारतेन्दु युग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

खड़ीबोली में रचित पहले नाटक को लेकर आज भी विवाद है। इस सन्दर्भ में विश्वनाथ सिंह के आनन्द रघुनन्दन, भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र के 'नहुष', राजा लक्ष्मण सिंह के शकुन्तला आदि की चर्चा की जाती है। भारतेन्दु ने काफी संख्या में मौलिक नाटक लिखे। उन्होंने संस्कृत, बांग्ला और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद भी किया। उनके मौलिक नाटकों में एक तरफ अतीत का गौरवगान है तो दूसरी तरफ समसामयिक समस्याओं का चित्रण भी। उन्होंने युगानुरूप नई नाट्य परम्परा की शुरुआत भी की। भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटक भारत-दुर्दशा में देश की तत्कालीन दशा को लेकर गम्भीर चिन्ता झलकती है। इसमें स्पष्ट परिलक्षित है कि 'अंगरेज राज सुख-साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जात इहै अति वारी।' विषस्य विषमौषधम में देशी रियासतों के कुचक्रों की झाँकी है। अन्धेर नगरी भारतेन्दु का सर्वाधिक चर्चित नाटक है। इसमें तत्कालीन शासनव्यवस्था पर अत्यन्त तीखा व्यंग्य किया गया है। लोककथा और लोकरूपों का बेहतरीन प्रयोग करके इसमें सत्ता की विवेकहीनता को उजागर किया गया है।

भारतेन्दु युग में भारतेन्दु के अतिरिक्त लाला श्रीनिवास दास, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी जैसे रचनाकार भी नाटकों के माध्यम से युगीन चेतना का प्रसार कर रहे थे। नाटकों के प्रति भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों का रागात्मक झुकाव था। लाला श्रीनिवास दास ने रणधीर प्रेममोहिनी, तृप्ता संवरण और संयोगिता स्वयंवर जैसे नाटकों की रचना की जो अत्यन्त चर्चित हुए। प्रतापनारायण मिश्र ने कलिकौतुक शीर्षक से नाटक लिखा। श्री राधाचरण गोस्वामी के दो प्रहसन तनमन गोसाईं जी को अर्पण तथा बूढ़े मुँह मुँहासे उल्लेखनीय हैं। पहले प्रहसन में धर्म गुरुओं की छद्म लीलाओं को उजागर किया गया है। बूढ़े मुँह मुँहासे में परनारीगमन के दुष्परिणामों को रेखांकित किया गया है।

यह कहना गलत न होगा कि भारतेन्दु युग के रचनाकारों ने युगीन चेतना को व्यक्त करने के लिए नाटकों को माध्यम बनाया। नाटकों के प्रति उनके रुझान का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि भारतेन्दु के साथ उनके मण्डल के अन्य लेखक जरूरत पड़ने पर स्वयं ही नाटकों के पात्रों की भूमिका का निर्वहन करने के लिए मंच से गुरेज नहीं करते थे। नाटक भारतेन्दु युग के लेखकों का औजार था। नाटक के अतिरिक्त भारतेन्दु युग के लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं को भी युगीन चेतना के प्रसार के लिए औजार बनाया।

भारतेन्दुयुगीन पत्र-पत्रिकाएँ युगीन चेतना की वाहक हैं। भारतेन्दुयुगीन रचनाकार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य को समृद्ध करते हुए देश की सेवा कर रहे थे। भारतेन्दु युग के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण साहित्यकार स्वयं ही पत्र-पत्रिकाएँ निकाल रहे थे। इस युग में दो दर्जन से अधिक पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन् 1868 में कविवचन सुधा नामक पत्रिका निकाली। इसमें साहित्यिक रचनाओं के साथ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषयों पर विचार और टिप्पणी होती थी। इस पत्रिका में उन्होंने विलायती कपड़े के बहिष्कार की अपील की थी और ग्राम गीतों के संकलन की योजना प्रकाशित की थी। सन् 1873 में उन्होंने हरिश्चन्द्र मैगजीन नामक मासिक पत्रिका निकाली। 'हिन्दी नए चाल में ढली' की ऐतिहासिक घोषणा उन्होंने इसी में की। बाद में उन्होंने इस पत्रिका का नाम बदलकर हरिश्चन्द्र चन्द्रिका कर दिया। सन् 1874 में भारतेन्दु ने स्त्री शिक्षा के प्रसार के लिए बालाबोधिनी नामक पत्रिका निकाली।

प्रतापनारायण मिश्र ब्राह्मण नाम की पत्रिका निकालते थे। बालकृष्ण भट्ट हिन्दी प्रदीप नामक पत्र निकालते थे। इसका सम्पादन उन्होंने सन् 1872 में

आरम्भ किया। अनेक प्रकार की कठिनाइयों को झेलते हुए भी वे इसे तैंतीस वर्षों तक निकालते रहे। बच्चन सिंह के अनुसार–"देश प्रेम का जैसा उत्साह इस पत्र ने दिखलाया था वैसा अन्यत्र नहीं देखा गया। उन्हें राजभक्ति और देशभक्ति की खिचड़ी ना पसन्द थी।" बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', आनन्द कादम्बिनी नाम की पत्रिका निकालते थे। उन्होंने बाद में नागरी नीरद नाम का पत्र भी निकाला। इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी नीति का भण्डाफोड़ किया और कर से पीड़ित किसानों के क्लेश का वर्णन किया।

बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने हिन्दी संवाद पत्रों के प्रचार के लिए बहुत श्रम किया। उन्होंने हिन्दी दीप्ति प्रकाश नामक संवाद पत्र और प्रेम विलासिनी नामक पत्रिका निकाली। इस दौर के उल्लेखनीय पत्रों में भारत मित्र, मित्र विलास, उचित वक्ता, सार सुधानिधि, भारत बन्धु आदि महत्त्वपूर्ण हैं। कालाकांकर के देश भक्त राजा रामपाल सिंह 'हिंदोस्थान' निकालते थे। इसके सम्पादकों में पण्डित मदन मोहन मालवीय, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि प्रमुख हैं। इस तरह भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता एक साथ साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी मोर्चों पर देश और समाज की सेवा का संकल्प लिए लगातार आगे बढ़ रही थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" उनके अनुसार भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है। भारतेन्दु युग में निबन्ध का विकास अनिवार्य रूप से पत्र-पत्रिकाओं से जुड़ा हुआ है। भारतेन्दुयुगीन साहित्यकार अपने सामाजिक-राष्ट्रीय दायित्व का निर्वहन करते हुए अपने विचारों का प्रसार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से करते थे। विविध विषयों पर वे अपने विचार निबंधों के रूप में प्रस्तुत करते थे। निबन्धों का विचारात्मक लेखों से गहरा सम्बन्ध है। भारतेन्दु युग के रचनाकार जीवन्त अभिव्यक्ति के धनी थे। रचनाकारों के व्यक्तित्त्व की छाप सीधे-सीधे उनके निबन्धों में उतरती है। उनके व्यक्तित्त्व की अनौपचारिकता, व्यंग्य विनोद, हास-परिहास वृत्ति और मस्ती उनके निबन्धों में स्वच्छन्द रूप में दिखाई पड़ती है।

भारतेन्दु ने अनेक प्रकार के निबन्ध–ऐतिहासिक, धार्मिक, साहित्यिक, आख्यानात्मक, भाषापरक, यात्रात्मक, विचारात्मक आदि लिखे। उनके निबन्धों में वैचारिक अन्तर्विरोध भी मिलता है। उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा उनके निबन्धों में दिखाई देती है। धर्म के सम्बन्ध में उनकी धारणा मूलतः प्रगतिशील

थी। देशभक्ति और राजभक्ति के बीच अन्तर्विरोध के स्वर भारतेन्दु के निबन्धों में परिलक्षित होते हैं। वे सभी धर्मों और संस्कृतियों के मेलजोल से राष्ट्रीय जागरण और एकता पैदा करना चाहते थे। स्वदेशी पर उन्होंने बल दिया है। अपनी भाषा के प्रति भी उन्हें अत्यधिक प्रेम था। स्वर्ग में विचार, सभा और भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? उनके उल्लेखनीय निबन्ध हैं।

बालकृष्ण भट्ट एवं प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु युग के महत्त्वपूर्ण निबन्धकार हैं। बालकृष्ण भट्ट व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्ध लिखते थे तो दूसरी तरफ विचारप्रधान और मनोवैज्ञानिक। बच्चन सिंह के शब्दों में "उनके भय, दृढ़ता, प्रेम और भक्ति आदि निबन्धों का विकास शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों में देखा जा सकता है। गद्य काव्य के आदि आचार्य वे ही हैं।" प्रताप नारायण मिश्र के निबन्धों का स्वर भारतेन्दु की तरह ही है। उनके निबन्धों में व्यंग्य की पैनी धार स्पष्ट दिखाई पड़ती है। गम्भीर विषयों पर लिखते समय भी उनकी भाषा व्यंग्य, विनोदपूर्ण और पूरबीपन से युक्त होती थी। उनके निबन्धों में बात, भौं, मनोयोग, समझदार की मौत है आदि महत्त्वपूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के अन्य निबन्धकारों में बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन और राधाचरण गोस्वामी उल्लेखनीय हैं। राधाचरण गोस्वामी का निबन्ध यमलोक की यात्रा प्रसिद्ध है।

निबन्ध के साथ ही भारतेन्दु युग में आलोचना का भी सूत्रपात होता है। इस युग के साहित्यकार पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक-सामाजिक विषयों या कृतियों पर जो विचार प्रकट करते थे, वस्तुतः यह हिन्दी आलोचना का प्रारम्भिक रूप था। भारतेन्दु ने नाटक नामक निबन्ध में अपने मौलिक विचार प्रकट किये हैं। इसमें उन्होंने बताया है कि नाटककार को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रेमघन ने बाणभट्ट पर एक भावुकतापूर्ण प्रशस्तिपरक लेख लिखा था। श्रीनिवास दास के संयोगिता स्वयंवर नाटक को लेकर पुस्तक समीक्षा के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक वाद-विवाद हुआ है। प्रेमघन ने अपनी पत्रिका आनन्द कादम्बिनी में संयोगिता स्वयंवर की समीक्षा की। बालकृष्ण भट्ट ने सच्ची समालोचना शीर्षक से अपनी पत्रिका हिन्दी प्रदीप में इसकी समीक्षा की। बच्चन सिंह के शब्दों में-"वास्तविक आलोचना का समारम्भ बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों से हुआ। भट्ट जी हिन्दी के पहले आलोचक हैं और संयोगिता स्वयंवर पर लिखी गई उनकी आलोचना पहली आलोचना (1886) है।"

धर्म, राजनीति और साहित्य के प्रति बालकृष्ण भट्ट का दृष्टिकोण प्रगतिशील और यथार्थवादी था। उन्होंने रीतिकालीन प्रवृत्तियों और परिपाटी युक्त

शैली पर प्रहार किया। भारतेन्दुयुगीन आलोचना यद्यपि अपने आरम्भिक रूप में है, लेकिन अपने तेवरों से वह सुखद भविष्य का संकेत करती है।

भारतेन्दु युग में प्राचीन कथा आख्यान की परम्परा विद्यमान है। इसके साथ ही इस युग में आधुनिक ढंग के उपन्यास का भी उदय हुआ। यद्यपि उपन्यास और कहानी के ढाँचे को लेकर इस युग के रचनाकार स्पष्ट नहीं हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कुछ आप बीती कुछ जगबीती नामक कहानी लिखनी शुरू की थी, लेकिन उसे वे पूरी नहीं कर पाए। शिवप्रसाद सितारे-हिन्द की राजा भोज का सपना को कहानी कह सकते हैं, लेकिन यह आधुनिक ढंग की कहानी नहीं, बल्कि प्राचीन परम्परा का कथा आख्यान ही है।

भारतेन्दु का ध्यान उपन्यास लिखने की ओर भी गया था। वे चाहते थे कि कोई रचनाकार उपन्यास लिखे। हिन्दी उपन्यास की परम्परा को देवरानी-जेठानी की कहानी (1870), वामा शिक्षक (1872) और भाग्यवती (1872) से जोड़ा जा सकता है, लेकिन इनमें औपन्यासिक तत्त्वों का अभाव है। रामचन्द्र शुक्ल ने लाला श्रीनिवास दास के परीक्षा गुरु (1872) को हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास माना है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ चित्रण के साथ नवजागरण की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। बच्चन सिंह के अनुसार "प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थ की गंगा की गोमुखी यही है।"

भारतेन्दु युग के महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों में बालकृष्ण भट्ट महत्त्वपूर्ण हैं। इनके दो उपन्यास नूतन ब्रह्मचारी (1887) और सौ अजान एक सुजान शिक्षा मूलक और सुधारवादी हैं। ये उपन्यास यथार्थ-चित्रण और व्यंग्यविनोद से युक्त हैं। इस युग के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री हैं। उनका उपन्यास चन्द्रकान्ता (1891) इतना लोकप्रिय हुआ कि तिलस्मी उपन्यासों की धूम मच गई। उनका दूसरा उपन्यास चन्द्रकान्ता सन्तति भी बहुत लोकप्रिय हुआ। ये उपन्यास घटना-प्रधान रोमांच पैदा करने वाले और मनोरंजन प्रधान हैं। कहते हैं कि उन्हें पढ़ने के लिए बहुत लोगों ने हिन्दी सीखी।

देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों की तर्ज पर गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखना शुरू किया। अपने उपन्यासों के प्रकाशन के लिए उन्होंने जासूस (1900) नाम के पत्र का प्रकाशन भी किया। पं. किशोरीलाल गोस्वामी इस युग के अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। गोपालराम गहमरी ने लगभग दो सौ तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने साठ से अधिक उपन्यासों की रचना की। किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक, ऐतिहासिक, ऐयारी-तिलस्मी और

जासूसी सभी तरह के उपन्यास लिखे। मेहतालज्जाराम शर्मा का धूर्त रसिकलाल (1899), राधाकृष्णदास का निस्सहाय हिन्दू (1889), अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का ठेठ हिन्दी का ठाट (1889), ठाकुर जगमोहन सिंह का श्यामा स्वप्न (1885), अम्बिकादत्त व्यास का आश्चर्य वृत्तान्त (1893) इस युग के उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ है। इस काल में हिन्दी साहित्य नवीन युग की आधुनिक चेतना के साथ नवजागरण की भावना से अनुप्राणित है। हिन्दी साहित्य रसिक दरबार से मुक्त होकर जनता तक पहुँचता है। लोकभाषा के रूप में प्रचलित खड़ीबोली हिन्दी साहित्य की वाहक बनती है। हिन्दी साहित्य में अनेक गद्य विधाओं का प्रादुर्भाव हुआ। भारतेन्दुयुगीन नवजागरण की चेतना एक तरफ सामन्ती मूल्यों से संघर्ष करती थी तो दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकतों से। भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों का साहित्य के माध्यम से जनता के लिए किए जाने वाला संघर्ष अप्रतिम है।

निष्कर्ष

हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात वास्तविक रूप में भारतेन्दु युग से हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी साहित्य और खड़ीबोली गद्य के प्रर्तक हैं। भारतेन्दु युग में कविता की भाषा प्रधानत: ब्रज थी, लेकिन वह रीतिकालीन ब्रज भाषा से अलग होते हुए युगीन चेतना से बदले हुए रूप में जुड़ती थी। इस युग में नाटकों का पुनर्प्रचलन साहित्येतिहास में ऐतिहासिक महत्त्व का है। इस युग में निबन्ध और आलोचना का विकास अपने आरम्भिक दौर में था, लेकिन पूर्वपीठिका के रूप में उनकी महत्ता असन्दिग्ध है।

3

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (9 सितंबर 1850–6 जनवरी 1885) आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं। वे हिन्दी में आधुनिकता के पहले रचनाकार थे। इनका मूल नाम 'हरिश्चन्द्र' था, 'भारतेन्दु' उनकी उपाधि थी। उनका कार्यकाल युग की सन्धि पर खड़ा है। उन्होंने रीतिकाल की विकृत सामन्ती संस्कृति की पोषक वृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ परम्परा की भूमि अपनाई और नवीनता के बीज बोए। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेन्दु जी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण का चित्रण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। हिन्दी को राष्ट्र–भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हिंदी पत्रकारिता, नाटक और काव्य के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान रहा। हिंदी में नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुन्दर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किन्तु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका', 'कविवचनसुधा' और 'बाला बोधिनी' पत्रिकाओं का संपादन भी किया। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे।

इसके अलावा वे लेखक, कवि, संपादक, निबंधकार, एवं कुशल वक्ता भी थे। भारतेन्दु जी ने मात्र चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही विशाल साहित्य की रचना की। उन्होंने मात्र और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा और इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथदर्शक बन गया।

जीवन परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 9 सितंबर, 1850 को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता गोपालचंद्र एक अच्छे कवि थे और 'गिरधरदास' उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। ये दिन उनकी आँख खुलने के थे। भारतेन्दु का कृतित्त्व साक्ष्य है कि उनकी आँखें एक बार खुलीं तो बन्द नहीं हुईं। उनके पूर्वज अंग्रेज भक्त थे, उनकी ही कृपा से धनवान हुये थे। हरिश्चंद्र पाँच वर्ष के थे तो माता की मृत्यु और दस वर्ष के थे तो पिता की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार बचपन में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो गये। विमाता ने खूब सताया। बचपन का सुख नहीं मिला। शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतन्त्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषय-वस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरण शक्ति तीव्र थी, ग्रहण क्षमता अद्‌भुत। इसलिए परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक - राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' थे, भारतेन्दु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अंग्रेजी सीखी। भारतेन्दु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं।

उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पांच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान॥

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदु जी ऋणी बन गए और दुश्चिंताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणाम स्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

साहित्यिक परिचय

भारतेन्दु के वृहत साहित्यिक योगदान के कारण ही 1857 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार,

भारतेन्दु अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्माकर, द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, तो दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। प्राचीन और नवीन का सुंदर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।

पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही भारतेंदु ने साहित्य सेवा प्रारंभ कर दी थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसमें उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों की रचनाएं छपती थीं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 1868 में 'कविवचनसुधा', 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्री शिक्षा के लिए 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिकाएँ निकालीं। साथ ही उनके समांतर साहित्यिक संस्थाएँ भी खड़ी कीं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। राजभक्ति प्रकट करते हुए भी, अपनी देशभक्ति की भावना के कारण उन्हें अंग्रेजी हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर काशी के विद्वानों ने 1880 में उन्हें 'भारतेंदु' (भारत का चंद्रमा) की उपाधि प्रदान की। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में है। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली के उस रूप को प्रतिष्ठित किया, जो उर्दू से भिन्न है और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का रस लेकर संवर्धित हुआ है। इसी भाषा में उन्होंने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य की रचना की। साहित्य सेवा के साथ-साथ भारतेंदु जी की समाज-सेवा भी चलती रही। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना में अपना योग दिया। दीन-दुखियों, साहित्यिकों तथा मित्रों की सहायता करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे।

प्रमुख कृतियाँ

1. मौलिक नाटक
2. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873ई., प्रहसन)
3. सत्य हरिश्चन्द्र (1875,नाटक)

4. श्री चंद्रावली (1876, नाटिका)
5. विषस्य विषमौषधम् (1876, भाण)
6. भारत दुर्दशा (1880, ब्रजरत्नदास के अनुसार 1876, नाट्य रासक),
7. नीलदेवी (1881, ऐतिहासिक गीति रूपक)।
8. अंधेर नगरी (1881, प्रहसन)
9. प्रेमजोगिनी (1875, प्रथम अंक में चार गर्भांक, नाटिका)
10. सती प्रताप (1883,अपूर्ण, केवल चार दृश्य, गीतिरूपक, बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया)

अनुदित नाट्य रचनाएँ

1. विद्यासुन्दर (1868,नाटक, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत बँगला संस्करण का हिंदी अनुवाद)
2. पाखण्ड विडम्बन (कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद)
3. धनंजय विजय (1873, व्यायोग, कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद)
4. कर्पूर मंजरी (1875, सट्टक, राजशेखर कवि कृत प्राकृत नाटक का अनुवाद)
5. भारत जननी (1877,नाट्यगीत, बंगला की 'भारतमाता' के हिंदी अनुवाद पर आधारित)
6. मुद्राराक्षस (1878, विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद)
7. दुर्लभ बंधु (1880, शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद)

निबंध संग्रह

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली (तृतीय खंड) में संकलित।
2. 'नाटक' शीर्षक प्रसिद्ध निबंध(1883)।

प्रमुख निबन्ध

1. नाटक
2. कालचक्र (जर्नल)
3. लेवी प्राण लेवी

4. भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?
5. कश्मीर कुसुम
6. जातीय संगीत
7. संगीत सार
8. हिंदी भाषा
9. स्वर्ग में विचार सभा
10. काव्यकृतियां
11. भक्तसर्वस्व (1870)
12. प्रेममालिका (1871),
13. प्रेम माधुरी (1875),
14. प्रेम-तरंग (1877),
15. उत्तरार्ध भक्तमाल (1876-77),
16. प्रेम-प्रलाप (1877),
17. होली (1.879),
18. मधु मुकुल (1881)
20. राग-संग्रह (1880),
21. वर्षा-विनोद (1880),
22. विनय प्रेम पचासा (1881),
23. फूलों का गुच्छा- खड़ीबोली काव्य (1882)
24. प्रेम फुलवारी (1883)
25. कृष्णचरित्र (1883)
26. दानलीला
27. तन्मय लीला
28. नये जमाने की मुकरी
29. सुमनांजलि
30. बन्दर सभा (हास्य व्यंग)
31. बकरी विलाप (हास्य व्यंग)
32. कहानी
33. अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न
34. यात्रा वृत्तान्त
35. सरयूपार की यात्रा

36. लखनऊ
37. आत्मकथा
38. एक कहानी- कुछ आपबीती, कुछ जगबीती
39. उपन्यास
40. पूर्णप्रकाश
41. चन्द्रप्रभा
42. वर्ण्य विषय

भारतेंदु जी की यह विशेषता रही कि जहां उन्होंने ईश्वर भक्ति आदि प्राचीन विषयों पर कविता लिखी वहां उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम आदि नवीन विषयों को भी अपनाया। भारतेंदु की रचनाओं में अंग्रेजी शासन का विरोध, स्वतंत्रता के लिए उद्दाम आकांक्षा और जातीय भावबोध की झलक मिलती है। सामन्ती जकड़न में फंसे समाज में आधुनिक चेतना के प्रसार के लिए लोगों को संगठित करने का प्रयास करना उस जमाने में एक नई ही बात थी। उनके साहित्य और नवीन विचारों ने उस समय के तमाम साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को झकझोरा और उनके इर्द-गिर्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत लेखकों का एक ऐसा समूह बन गया, जिसे भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना जाता है।

विषय के अनुसार उनकी कविता शृंगार-प्रधान, भक्ति-प्रधान, सामाजिक समस्या प्रधान तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान है।

शृंगार रस प्रधान भारतेंदु जी ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। वियोगावस्था का एक चित्र देखिए-

देख्यो एक बारहूं न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहें तही पछतायगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरसे तिहारे हाय,
देखि लीजो आंखें ये खुली ही रह जायगी।

भक्ति प्रधान भारतेंदु जी कृष्ण के भक्त थे और पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। उनको कविता में सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। वे कामना करते हैं–

बोल्यों करै नूपुर स्त्रीननि के निकट सदा
पद तल मांहि मन मेरी बिहरयौ करै।
बाज्यौ करै बंसी धुनि पूरि रोम-रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनही हास्यौ करै।

सामाजिक समस्या प्रधान भारतेंदु जी ने अपने काव्य में अनेक सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किए। महाजनों और रिश्वत लेने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा–

चूरन अमले जो सब खाते,
दूनी रिश्वत तुरत पचाते।
चूरन सभी महाजन खाते,
जिससे जमा हजम कर जाते।

राष्ट्र-प्रेम प्रधान भारतेंदु जी के काव्य में राष्ट्र-प्रेम भी भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राचीन गौरव की झांकी वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं–

भारत के भुज बल जग रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय कंपिथ संसारा।

प्राकृतिक चित्रण प्रकृति चित्रण में भारतेंदु जी को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे मानव-प्रकृति के शिल्पी थे, बाह्य प्रकृति में उनका मर्मपूर्ण रूपेण नहीं रम पाया। अत: उनके अधिकांश प्रकृति चित्रण में मानव हृदय को आकर्षित करने की शक्ति का अभाव है। चंद्रावली नाटिका के यमुना-वर्णन में अवश्य सजीवता है तथा उसकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं नवीनता लिए हुए हैं-

कै पिय पद उपमान जान यह निज उर धारत,
कै मुख कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांई,
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आई।

प्रकृति वर्णन का यह उदहारण देखिये, जिसमे यमुना की शोभा कितनी दर्शनीय है-

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहूँ सुहाये।।

भाषा

भारतेन्दु के समय में राजकाज और संभ्रांत वर्ग की भाषा फारसी थी। वहीं, अंग्रेजी का वर्चस्व भी बढ़ता जा रहा था। साहित्य में ब्रजभाषा का बोलबाला था।

फारसी के प्रभाव वाली उर्दू भी चलन में आ गई थी। ऐसे समय में भारतेन्दु ने लोकभाषाओं और फारसी से मुक्त उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का विकास किया। आज जो हिंदी हम लिखते-बोलते हैं, वह भारतेंदु की ही देन है। यही कारण है कि उन्हें आधुनिक हिंदी का जनक माना जाता है। केवल भाषा ही नहीं, साहित्य में उन्होंने नवीन आधुनिक चेतना का समावेश किया और साहित्य को 'जन' से जोड़ा।

भारतेन्दु की रचनाधर्मिता में दोहरापन दिखता है। कविता जहां वे ब्रज भाषा में लिखते रहे, वहीं उन्होंने बाकी विधाओं में सफल हाथ खड़ी बोली में आजमाया। सही मायने में कहें तो भारतेंदु आधुनिक खड़ी बोली गद्य के उन्नायक हैं।

भारतेन्दु जी के काव्य की भाषा प्रधानत: ब्रज भाषा है। उन्होंने ब्रज भाषा के अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर उसके परिकृष्ट रूप को अपनाया। उनकी भाषा में जहां-तहां उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी जाते हैं।

उनके गद्य की भाषा सरल और व्यावहारिक है। मुहावरों का प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है।

शैली

भारतेंदु जी के काव्य में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं -

1. रीति कालीन रसपूर्ण अलंकार शैली - श्रृंगारिक कविताओं में,
2. भावात्मक शैली - भक्ति के पदों में,
3. व्यंग्यात्मक शैली - समाज-सुधार की रचनाओं में,
4. उद्‌बोधन शैली - देश-प्रेम की कविताओं में।

रस

भारतेंदु जी ने लगभग सभी रसों में कविता की है। श्रृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है। श्रृंगार के दोनों पक्षों का भारतेंदु जी ने सुंदर वर्णन किया है। उनके काव्य में हास्य रस की भी उत्कृष्ट योजना मिलती है।

छन्द

भारतेंदु जी ने अपने समय में प्रचलित प्राय: सभी छंदों को अपनाया है। उन्होंने केवल हिंदी के ही नहीं उर्दू, संस्कृत, बंगला भाषा के छंदों को भी स्थान दिया है। उनके काव्य में संस्कृत के वसंत तिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, शालिनी

आदि हिंदी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियाँ, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि, बंगला के पयार तथा उर्दू के रेखता, गजल छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतेंदु जी कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चौती आदि लोक छंदों को भी व्यावहार में लाए हैं।

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भारतेंदु जी के काव्य में सहज रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह अलंकारों के प्रति भारतेंदु जी की अधिक रुचि है। शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है। निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकार की योजना स्पष्ट दिखाई देती है–

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए।

महत्त्वपूर्ण कार्य

नवीन साहित्यिक चेतना और स्वभाषा प्रेम का सूत्रपात

आधुनिक हिंदी साहित्य में भारतेंदु जी का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। भारतेंदु बहूमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अपूर्व है। भारतेंदु जी हिंदी में नव जागरण का संदेश लेकर अवतरित हुए। उन्होंने हिंदी के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया। भाव, भाषा और शैली में नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करके उन्हें आधुनिक काल के अनुरूप बनाया। आधुनिक हिंदी के वे जन्मदाता माने जाते हैं। हिंदी के नाटकों का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ।

भारतेंदु जी अपने समय के साहित्यिक नेता थे। उनसे कितने ही प्रतिभाशाली लेखकों को जन्म मिला। मातृ-भाषा की सेवा में उन्होंने अपना जीवन ही नहीं संपूर्ण धन भी अर्पित कर दिया। हिंदी भाषा की उन्नति उनका मूलमंत्र था –

निज भाषा उन्नति लहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल॥
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहू, भाषा माहि प्रचार॥

1882 में शिक्षा आयोग (हन्टर कमीशन) के समक्ष अपनी गवाही में हिन्दी को न्यायालयों की भाषा बनाने की महत्ता पर उन्होंने कहा–

यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाए, तो सम्मन पढ़वाने, के लिए दो–चार आने कौन देगा, और साधारण–सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया–आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वालों को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारंट बता दें। सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही (भारत) ऐसा देश है, जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में, तथा एक हिंदी में, लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जाएगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है। जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं, उनमें हिंदी का प्रयोग होने से रैयत और जमींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब–किताब हिंदी में रखते हैं। स्त्रियाँ हिंदी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के कागजात हिंदी में लिखे जाते हैं और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिंदी में शिक्षा देते हैं।

इसी सन्दर्भ में 1868 ई में 'उर्दू का स्यापा' नाम से उन्होंने एक व्यंग्य कविता लिखी–

है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय।
बल्ला बिल्ला हाय हाय। रोये पीटें हाय हाय।
टाँग घसीटैं हाय हाय। सब छिन सोचौं हाय हाय।
डाढ़ी नोचौं हाय हाय। दुनिया उल्टी हाय हाय।
रोजी बिल्टी हाय हाय। सब मुखतारी हाय हाय।
किसने मारी हाय हाय। खबर नवीसी हाय हाय।
दाँत पीसी हाय हाय। एडिटर पोसी हाय हाय।
बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय।
चरब–जुबानी हाय हाय। शोख बयानि हाय हाय।
फिर नहीं आनी हाय हाय।

अपनी इन्हीं कार्यों के कारण भारतेन्दु हिन्दी साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गए और उनका युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिश्चंद्र चंद्रिका, कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र मैग्जीन, स्त्री बाला बोधिनी जैसे

प्रकाशन उनके विचारशील और प्रगतिशील सम्पादकीय दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास

भारतेन्दु का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य को, और उसके साथ समाज को साम्राज्य-विरोधी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दी। 1870 में जब कविवचनसुधा में उन्होंने लॉर्ड मेयो को लक्ष्य करके 'लेवी प्राण लेवी' नामक लेख लिखा, तब से हिन्दी साहित्य में एक नयी साम्राज्य-विरोधी चेतना का प्रसार आरम्भ हुआ। 6 जुलाई 1874 को कविवचनसुधा में लिखा कि जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वतन्त्र हुआ उसी प्रकार भारत भी स्वतन्त्रता लाभ कर सकता है। उन्होंने तदीय समाज की स्थापना की, जिसके सदस्य स्वदेशी वस्तुओं के व्यावहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा करते थे। भारतेन्दु ने विलायती कपड़ों के बहिष्कार की अपील करते हुए स्वदेशी का जो प्रतिज्ञा पत्र 23 मार्च, 1874 के 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित किया, वह समूचे हिंदी समाज का प्रतिज्ञा पत्र बन गया। उसमें भारतेंदु ने कहा था,

हमलोग सर्वातर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा नही पहनेंगे और जो कपड़ा कि पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं, उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लेंगे, पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा नही पहिनेंगे, हिंदुस्तान का ही बना कपड़ा पहिनेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय के बाद में अवश्य उद्योग करेंगे।

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ही साहित्य में जन भावनाओं और आकांक्षाओं को स्वर दिया था। पहली बार साहित्य में 'जन' का समावेश भारतेन्दु ने ही किया। उनके पहले काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का ही बोलबाला था। साहित्य पतनशील सामन्ती संस्कृति का पोषक बन गया था, पर भारतेन्दु ने साहित्य को जनता की गरीबी, पराधीनता, विदेशी शासकों के अमानवीय शोषण के चित्रण और उसके विरोध का माध्यम बना दिया। अपने नाटकों, कवित्त,

मुकरियों और प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी राज पर कटाक्ष और प्रहार किए, जिसके चलते उन्हें अंग्रेजों का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

भारतेंदु अंग्रेजों के शोषण तंत्र को भली-भांति समझते थे। अपनी पत्रिका कविवचनसुधा में उन्होंने लिखा था–

जब अंग्रेज विलायत से आते हैं, प्रायः कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिंदुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं, तब कुबेर बनकर जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।

यही नहीं, 20वीं सदी की शुरुआत में दादाभाई नौरोजी ने धन के अपवहन यानी ड्रेन ऑफ वेल्थ के जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था, भारतेन्दु ने बहुत पहले ही शोषण के इस रूप को समझ लिया था। उन्होंने लिखा था–

अंगरेजी राज सुखसाज सजे अति भारी, पर सब धन विदेश चलि जात ये ख्वारी।

अंग्रेज भारत का धन अपने यहां लेकर चले जाते हैं और यही देश की जनता की गरीबी और कष्टों का मूल कारण है, इस सच्चाई को भारतेंदु ने समझ लिया था। कविवचनसुधा में उन्होंने जनता का आह्वान किया था–

भाइयों! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे वह उपाय करो।"

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होंने लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आह्वान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से भारतेंदु का यह उद्‌बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थानबिंदु है। भाषण का एक छोटा सा अंश देखिए-

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में, जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था, तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंग्रेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंग्रेज फ्रांसीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायेगा फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है। देखिए, किस तरह भारत की चिंता इस निबन्ध में भारतेंदु व्यक्त करते हैं,

बहुत लोग यह कहेंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करें? तुम्हरा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटों को साफ किया।

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई॥

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णतः खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अंग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया,

सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वाले जो द्रव्य व्यय किया है, उसका व्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा,

यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी, क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।

4

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट (23 जून 1844- 20 जुलाई 1914) हिन्दी के सफल पत्रकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबंधकार थे। उन्हें आज की गद्य प्रधान कविता का जनक माना जा सकता है। हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में उनका प्रमुख स्थान है।

जीवन परिचय

पंडित बालकृष्ण भट्ट के पिता का नाम पं. वेणी प्रसाद था। स्कूल में दसवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भट्ट जी ने घर पर ही संस्कृत का अध्ययन किया। संस्कृत के अतिरिक्त उन्हें हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान हो गया। भट्ट जी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने व्यापार का कार्य किया तथा वे कुछ समय तक कायस्थ पाठशाला प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक भी रहे, किन्तु उनका मन किसी में नहीं रमा। भारतेंदु जी से प्रभावित होकर उन्होंने हिंदी-साहित्य सेवा का व्रत ले लिया। भट्ट जी ने हिन्दी प्रदीप नामक मासिक पत्र निकाला। इस पत्र के वे स्वयं संपादक थे। उन्होंने इस पत्र के द्वारा निरंतर 32 वर्ष तक हिंदी की सेवा की। काशी नागरी प्रचारिणी सभा

द्वारा आयोजित हिंदी शब्दसागर के संपादन में भी उन्होंने बाबू श्याम सुंदर दास तथा शुक्ल जी के साथ कार्य किया।

उनका जन्म प्रयाग के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। भट्ट जी की माता अपने पति की अपेक्षा अधिक पढ़ी-लिखी और विदुषी थीं। उनका प्रभाव बालकृष्ण भट्ट जी पर अधिक पड़ा। भट्ट जी मिशन स्कूल में पढ़ते थे। वहाँ के प्रधानाचार्य एक ईसाई पादरी थे। उनसे वाद-विवाद हो जाने के कारण इन्होंने मिशन स्कूल जाना बंद कर दिया। इस प्रकार वह घर पर रह कर ही संस्कृत का अध्ययन करने लगे। वे अपने सिद्धान्तों एवं जीवन-मूल्यों के इतने दृढ़ प्रतिपादक थे कि कालान्तर में इन्हें अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण मिशन स्कूल तथा कायस्थ पाठशाला के संस्कृत अध्यापक के पद से त्याग-पत्र देना पड़ा था। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कुछ समय तक व्यापार भी किया, परन्तु उसमें इनकी अधिक रुचि न होने के कारण सफलता नहीं मिल सकी। आपकी अभिरुचि आरंभ से ही साहित्य सेवा में थी। अत: सेवा-वृत्ति को तिलांजलि देकर वे यावज्जीवन हिन्दी साहित्य की सेवा ही करते रहे।

कार्यक्षेत्र

भट्ट जी एक अच्छे और सफल पत्रकार भी थे। हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने संवत् 1933 में प्रयाग में हिन्दीवर्द्धिनी नामक सभा की स्थापना की। उसकी ओर से एक हिन्दी मासिक पत्र का प्रकाशन भी किया, जिसका नाम था 'हिन्दी प्रदीप, वह बत्तीस वर्ष तक इसके संपादक रहे और इसे नियमित रूप से भली-भाँति चलाते रहे। हिन्दी प्रदीप के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट जी ने दो-तीन अन्य पत्रिकाओं का संपादन भी किया। भट्ट जी भारतेन्दु युग के प्रतिष्ठित निबंधकार थे। अपने निबंधों द्वारा हिन्दी की सेवा करने के लिए उनका नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। उनके निबन्ध अधिकतर हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित होते थे। उनके निबंध सदा मौलिक और भावना पूर्ण होते थे। वह इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें पुस्तकें लिखने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था। अत्यन्त व्यस्त समय होते हुए भी उन्होंने 'सौ अजान एक सुजान', 'रेल का विकट खेल', 'नूतन ब्रह्मचारी', 'बाल विवाह' तथा 'भाग्य की परख' आदि छोटी-मोटी दस-बारह पुस्तकें लिखीं। वैसे आपने निबंधों के अतिरिक्त कुछ नाटक, कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं।

प्रमुख कृतियाँ

भट्ट जी ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में लिखा। उन्हें मूलरूप से निबन्ध लेखक के रूप में जाना जाता है, लेकिन उन्होंने उपन्यास और नाटक भी लिखे।

निबन्ध संग्रह–साहित्य सुमन और भट्ट निबन्धावली।आत्मनिर्भरता (1893)

उपन्यास–नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान, रहस्यकथा

मौलिक नाटक–दमयन्ती स्वयंवर, बाल-विवाह, चन्द्रसेन, रेल का विकट खेल, आदि।

अनुवाद–भट्ट जी ने बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के अनुवाद भी किए, जिनमें वेणीसंहार, मृच्छकटिक, पद्मावती आदि प्रमुख हैं।

भाषा

भाषा की दृष्टि से अपने समय के लेखकों में भट्ट जी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथाशक्ति शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया। भावों के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने में भट्ट जी बड़े कुशल थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने सुंदर ढंग से किया है। भट्ट जी की भाषा में जहाँ तहाँ पूर्वीपन की झलक मिलती है। जैसे- समझा-बुझा के स्थान पर समझाय-बुझाय लिखा गया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है। द्वितीय कोटि में आने वाली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तत्कालीन उर्दू, अरबी, फारसी तथा ऑग्ल भाषीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। वह हिन्दी की परिधि का विस्तार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भाषा को विषय एवं प्रसंग के अनुसार प्रचलित हिन्दीतर शब्दों से भी समन्वित किया है। आपकी भाषा जीवंत तथा चित्ताकर्षक है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी बोली के प्रयोगों के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे भाषा अत्यन्त रोचक और प्रवाहमयी बन गई है।

वर्ण्य विषय

भट्ट जी ने जहाँ आँख, कान, नाक, बातचीत जैसे साधारण विषयों पर लेख लिखे हैं, वहाँ आत्मनिर्भरता, चारु चरित्र जैसे गंभीर विषयों पर भी लेखनी चलाई है। साहित्यिक और सामाजिक विषय भी भट्ट जी से अछूते नहीं बचे। 'चंद्रोदय' उनके साहित्यिक निबंधों में से है। समाज की कुरीतियों को दूर करने

के लिए उन्होंने सामाजिक निबंधों की रचना की। भट्ट जी के निबंधों में सुरुचि-संपन्नता, कल्पना, बहुवर्णन शीलता के साथ-साथ हास्य व्यंग्य के भी दर्शन होते हैं।

शैली

भट्ट जी की लेखन - शैली को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की शैली को परिचयात्मक शैली कहा जा सकता है। इस शैली में उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। द्वितीय कोटि में आने वाली शैली गूढ़ और गंभीर है। इस शैली में भट्ट जी को अधिक नैपुण्य प्राप्त है। आपने 'आत्म-निर्भरता' तथा 'कल्पना' जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त, 'आँख', 'नाक', तथा 'कान', आदि अति सामान्य विषयों पर भी सुन्दर निबंध लिखे हैं। आपके निबंधों में विचारों की गहनता, विषय की विस्तृत विवेचना, गम्भीर चिन्तन के साथ एक अनूठापन भी है। यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद उनकी शैली को मनोरंजक बना देता है। उन्होंने हास्य आधारित लेख भी लिखे हैं, जो अत्यन्त शिक्षादायक हैं। भट्ट जी का गद्य, गद्य न होकर गद्यकाव्य सा प्रतीत होता है। वस्तुत: आधुनिक कविता में पद्यात्मक शैली में गद्य लिखने की परंपरा का सूत्रपात श्री बालकृष्ण भट्ट जी ने ही किया था।

1. वर्णनात्मक शैली- वर्णनात्मक शैली में भट्ट जी ने व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों पर निबंध लिखे हैं। जन साधारण के लिए भट्ट जी ने इसी शैली को अपनाया। उनके उपन्यास की शैली भी यही है, किंतु इसे उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कहा जा सकता।

इस शैली की भाषा सरल और मुहावरेदार है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं।

2. विचारात्मक शैली- भट्ट जी द्वारा गंभीर विषयों पर लिखे गए निबंध इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। तर्क और विश्वास, ज्ञान और भक्ति, संभाषण आदि निबंध विचारात्मक शैली के उदाहरण हैं।

इस शैली की भाषा में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है।

3. भावात्मक शैली- इस शैली का प्रयोग भट्ट जी ने साहित्यिक निबंधों में किया है। इसे भट्ट जी की प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है।

इस शैली में शुद्ध हिंदी का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहमयी, संयत और भावानुकूल है। इस शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी

हुआ है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में विशेष सौंदर्य आ गया है। भावों और विचार के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ। इसमें गद्य काव्य जैसा आनंद होता है। चंद्रोदय निबंध का एक अंश देखिए- यह गोल-गोल प्रकाश का पिंड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती है कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है, यह रजनी रमणी के ललाट पर दुक्के का सफेद तिलक है।

4. व्यंग्यात्मक शैली- इस शैली में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है। विषय के अनुसार कहीं व्यंग्य अत्यंत मार्मिक और तीखा हो गया है।

इस शैली की भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता है और वाक्य छोटे-छोटे हैं।

साहित्य सेवा और स्थान

भारतेंदु काल के निबंध-लेखकों में भट्ट जी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने पत्र, नाटक, काव्य, निबंध, लेखक, उपन्यासकार अनुवादक विभिन्न रूपों में हिंदी की सेवा की और उसे धनी बनाया।

साहित्य की दृष्टि से भट्ट जी के निबंध अत्यंत उच्चकोटि के हैं। इस दिशा में उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब से की जा सकती है। गद्य काव्य की रचना भी सर्वप्रथम भट्ट जी ने ही प्रारंभ की। इनसे पूर्वक हिंदी में गद्य काव्य का नितांत अभाव था।

5

महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार एवं युगप्रवर्तक थे। उन्होंने हिंदी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की और अपने युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान की। उनके इस अतुलनीय योगदान के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का दूसरा युग 'द्विवेदी युग' (1900-1920) के नाम से जाना जाता है। उन्होंने सत्रह वर्ष तक हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका सरस्वती का सम्पादन किया। हिन्दी नवजागरण में उनकी महान भूमिका रही। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति व दिशा देने में भी उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

हिन्दी के महान लेखक व पत्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में 15 मई 1864 को हुआ था। इनके पिता का नाम पं. रामसहाय दुबे था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। धनाभाव के कारण इनकी शिक्षा का क्रम अधिक समय तक न चल सका। इन्हें जी आर. पी रेलवे में नौकरी मिल गई। 25 वर्ष की आयु में रेल विभाग अजमेर में 1 वर्ष का प्रवास। नौकरी छोड़कर पिता के पास मुंबई प्रस्थान एवं टेलीग्राफ का काम सीखकर इंडियन मिडलैंड रेलवे में तार बाबू के रूप में नियुक्ति। अपने उच्चाधिकारी से न पटने और स्वाभिमानी स्वभाव के कारण 1904 में झाँसी में रेल विभाग की 200 रुपये मासिक वेतन

की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। नौकरी के साथ-साथ द्विवेदी अध्ययन में भी जुटे रहे और हिंदी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, संस्कृत आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

सन् 1903 में द्विवेदी जी ने सरस्वती मासिक पत्रिका के संपादन का कार्यभार सँभाला और उसे सत्रह वर्ष तक कुशलतापूर्वक निभाया। 1904 में नौकरी से त्यागपत्र देने के पश्चात स्थायी रूप से 'सरस्वती' के संपादन कार्य में लग गये। 200 रूपये मासिक की नौकरी को त्यागकर मात्र 20 रूपये प्रतिमास पर सरस्वती के सम्पादक के रूप में कार्य करना उनके त्याग का परिचायक है। संपादन-कार्य से अवकाश प्राप्त कर द्विवेदी जी अपने गाँव चले आए। अत्यधिक रुग्ण होने से 21 दिसम्बर 1938 को रायबरेली में इनका स्वर्गवास हो गया।

प्रकाशित कृतियाँ

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले लेखक थे, जिन्होंने केवल अपनी जातीय परंपरा का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसे आलोचकीय दृष्टि से भी देखा था। उन्होंने अनेक विधाओं में रचना की। कविता, कहानी, आलोचना, पुस्तक समीक्षा, अनुवाद, जीवनी आदि विधाओं के साथ उन्होंने अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास आदि अन्य अनुशासनों में न सिर्फ विपुल मात्र में लिखा, बल्कि अन्य लेखकों को भी इस दिशा में लेखन के लिए प्रेरित किया। द्विवेदी जी केवल कविता, कहानी, आलोचना आदि को ही साहित्य मानने के विरुद्ध थे। वे अर्थशास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, समाजशास्त्र आदि विषयों को भी साहित्य के ही दायरे में रखते थे। वस्तुतः स्वाधीनता, स्वदेशी और स्वावलंबन को गति देने वाले ज्ञान-विज्ञान के तमाम आधारों को वे आंदोलित करना चाहते थे। इस कार्य के लिये उन्होंने सिर्फ उपदेश नहीं दिया, बल्कि मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं लिखकर दिखाया।

उन्होंने वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत-साहित्य की निरंतर प्रवाहमान धारा का अवगाहन किया था एवं उपयोगिता तथा कलात्मक योगदान के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टि अपनायी थी। उन्होंने श्रीहर्ष के संस्कृत महाकाव्य नैषधीयचरितम् पर अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'नैषधचरित चर्चा' नाम से लिखी (1899), जो संस्कृत-साहित्य पर हिन्दी में पहली आलोचना-पुस्तक भी है। फिर उन्होंने लगातार संस्कृत-साहित्य का अन्वेषण, विवेचन और मूल्यांकन किया। उन्होंने संस्कृत के कुछ महाकाव्यों के हिन्दी में औपन्यासिक

रूपांतर भी किये, जिनमें कालिदास कृत रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, किरातार्जुनीयप्रमुख हैं।

संस्कृत, ब्रजभाषा और खड़ी बोली में स्फुट काव्य-रचना से साहित्य-साधना का आरंभ करने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत और अंग्रेजी से क्रमशः ब्रजभाषा और हिन्दी में अनुवाद-कार्य के अलावा प्रभूत समालोचनात्मक लेखन किया। उनकी मौलिक पुस्तकों में नाट्यशास्त्र(1904 ई.), विक्रमांकदेव चरितचर्या(1907 ई.), हिन्दी भाषा की उत्पत्ति(1907 ई.) और संपत्तिशास्त्र(1907 ई.) प्रमुख हैं तथा अनूदित पुस्तकों में शिक्षा (हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद, 1906 ई.) और स्वाधीनता (जान, स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद, 1907 ई.)।

द्विवेदी जी ने विस्तृत रूप में साहित्य रचना की। इनके छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या कुल मिलाकर 81 है। पद्य के मौलिक-ग्रंथों में काव्य-मंजूषा, कविता कलाप, देवी-स्तुति, शतक आदि प्रमुख है। गंगालहरी, तु तरंगिणी, कुमार संभव सार आदि इनके अनूदित पद्य-ग्रंथ हैं।

गद्य के मौलिक ग्रंथों में तरुणोपदेश, नैषध चरित्र चर्चा, हिंदी कालिदास की समालोचना, नाट्य शास्त्र, हिंदी भाषा की उत्पत्ति, कालीदास की निरंकुशता आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुवादों में वेकन विचार, रत्नावली, हिंदी महाभारत, वेणी संसार आदि प्रमुख हैं।

मौलिक पद्य रचनाएँ

देवी स्तुति-शतक (1892 ई.)।
कान्यकुब्जावलीव्रतम (1898 ई.)।
समाचार पत्र सम्पादन स्तवः (1898 ई.)।
नागरी (1900 ई.)।
कान्यकुब्ज-अबला-विलाप (1907 ई.)।
काव्य मंजूषा (1903 ई.)।
सुमन (1923 ई.)।
द्विवेदी काव्य-माला (1940 ई.)।
कविता कलाप (1909 ई.)।
पद्य (अनुदित)।

विनय विनोद (1889 ई.)- भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का दोहों में अनुवाद।

विहार वाटिका (1890 ई.)- गीत गोविन्द का भावानुवाद।

स्नेह माला (1890 ई.)- भर्तृहरि के 'शृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद।

श्री महिम्न स्तोत्र (1891 ई.)- संस्कृत के 'महिम्न स्तोत्र' का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद।

गंगा लहरी (1891 ई.)- पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का सवैयों में अनुवाद।

ऋतुतरंगिणी (1891 ई.)- कालिदास के 'ऋतुसंहार' का छायानुवाद।

सोहागरात (अप्रकाशित)- बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद।

कुमारसम्भवसार (1902 ई.)- कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश।

मौलिक गद्य रचनाएँ

नैषध चरित्र चर्चा (1899 ई.)।

तरुणोपदेश (अप्रकाशित)।

हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना (1901 ई.)।

वैज्ञानिक कोश (1906ई.),।

नाट्यशास्त्र (1912ई.)।

विक्रमांकदेवचरितचर्चा (1907ई.)।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (1907ई.)।

सम्पत्ति-शास्त्र (1907ई.)।

कौटिल्य कुठार (1907ई.)।

कालिदास की निरकुंशता (1912ई.)।

वनिता-विलाप (1918ई.)।

औद्यागिकी (1920ई.)।

रसज्ञ रंजन (1920ई.)।

कालिदास और उनकी कविता (1920ई.)।

सुकवि संकीर्तन (1924ई.)।

अतीत स्मृति (1924ई.)।

साहित्य सन्दर्भ (1928ई.)।

अदभुत आलाप (1924ई.)।
महिलामोद (1925ई.)।
आध्यात्मिकी (1928ई.)।
वैचित्र्य चित्रण (1926ई.)।
साहित्यालाप (1926ई.)।
विज्ञ विनोद (1926ई.)।
कोविद कीर्तन (1928ई.)।
विदेशी विद्वान (1928ई.)।
प्राचीन चिह्न (1929ई.)।
चरित चर्या (1930ई.)।
पुरावृत्त (1933ई.)।
दृश्य दर्शन (1928ई.)।
आलोचनांजलि (1928ई.)।
चरित्र चित्रण (1929ई.)।
पुरातत्त्व प्रसंग (1929ई.)।
साहित्य सीकर (1930ई.)।
विज्ञान वार्ता (1930ई.)।
वाग्विलास (1930ई.)।
संकलन (1931ई.)।
विचार-विमर्श (1931ई.)।

गद्य (अनुदित)

भामिनी-विलास (1891ई.)- पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद।

अमृत लहरी (1896ई.)- पण्डितराज जगन्नाथ के 'यमुना स्तोत्र' का भावानुवाद।

बेकन-विचार-रत्नावली (1901ई.)- बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद।

शिक्षा (1906ई.)- हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद।

स्वाधीनता (1907ई.)- जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद।

जल चिकित्सा (1907ई.)- जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद।

हिन्दी महाभारत (1908ई.)- 'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर।

रघुवंश (1912ई.)- कालिदास के 'रघुवंशम्' महाकाव्य का भाषानुवाद।

वेणी-संहार (1913ई.)- संस्कृत कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद।

कुमार सम्भव (1915ई.)- कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद।

मेघदूत (1917ई.)- कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद।

किरातार्जुनीय (1917ई.)- भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का अनुवाद।

प्राचीन पण्डित और कवि (1918ई.)- अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और पण्डितों का परिचय।

आख्यायिका सप्तक (1927ई.)- अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का छायानुवाद।

वर्ण्य विषय

हिंदी भाषा के प्रसार, पाठकों के रुचि परिष्कार और ज्ञानवर्धन के लिए द्विवेदी जी ने विविध विषयों पर अनेक निबंध लिखे। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी निबंध आठ भागों में विभाजित किए जा सकते हैं - साहित्य, जीवन चरित्र, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योग, शिल्प भाषा, अध्यात्म। द्विवेदी जी ने आलोचनात्मक निबंधों की भी रचना की। उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में संस्कृत टीकाकारों की भांति कृतियों का गुण-दोष विवेचन किया और खंडन-मंडन की शास्त्रर्थ पद्धति को अपनाया है।

भाषा

द्विवेदी जी सरल और सुबोध भाषा लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं सरल और प्रचलित भाषा को अपनाया। उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और न उर्दू-फारसी के अप्रचलित शब्दों की भरमार है वे गृह के स्थान पर घर और उच्च के स्थान पर ऊँचा लिखना अधिक पसंद करते थे। द्विवेदी जी ने अपनी भाषा में उर्दू और फारसी के शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया, किंतु इस प्रयोग में उन्होंने केवल प्रचलित शब्दों को ही अपनाया। द्विवेदी

जी की भाषा का रूप पूर्णत: स्थित है। वह शुद्ध परिष्कृत और व्याकरण के नियमों से बंधी हुई है। उनका वाक्य-विन्यास हिंदी को प्रकृति के अनुरूप है कहीं भी वह अंग्रेजी या उर्दू के ढंग का नहीं।

शैली

द्विवेदी जी की शैली के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगत होते हैं-

परिचयात्मक शैली

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों पर लेखनी चलाई। विषय नये और प्रारंभिक होने के कारण द्विवेदी जी ने उनका परिचय सरल और सुबोध शैली में कराया। ऐसे विषयों पर लेख लिखते समय द्विवेदी जी ने एक शिक्षक की भांति एक बात को कई बार दुहराया है, ताकि पाठकों की समझ में वह भली प्रकार आ जाए। इस प्रकार लेखों की शैली परिचयात्मक शैली है।

आलोचनात्मक शैली

हिंदी भाषा के प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए द्विवेदी जी इस शैली में लिखते थे। इस शैली में लिखकर उन्होंने विरोधियों को मुंह-तोड़ उत्तर दिया। यह शैली ओजपूर्ण है। इसमें प्रवाह है और इसकी भाषा गंभीर है। कहीं-कहीं यह शैली ओजपूर्ण न होकर व्यंग्यात्मक हो जाती है। ऐसे स्थलों पर शब्दों में चुलबुलाहट और वाक्यों में सरलता रहती है। 'इस म्यूनिसिपाल्टी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सी मैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम है। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कार गुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप राय बहादुर बन जाएं और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घर-घिरे रहें।'

विचारात्मक अथवा गवेषणात्मक शैली

गंभीर साहित्यिक विषयों के विवेचन में द्विवेदी जी ने इस शैली को अपनाया है। इस शैली के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप उन लेखों में मिलता है, जो किसी विवादग्रस्त विषय को लेकर जनसाधारण को समझाने के लिए लिखे गए हैं। इसमें वाक्य छोटे-छोटे हैं। भाषा सरल है। दूसरा रूप उन लेखों में

पाया जाता है, जो विद्वानों को संबोधित कर लिखे गए हैं। इसमें वाक्य अपेक्षाकृत लंबे हैं। भाषा कुछ क्लिष्ट है। उदाहरण के लिए –

अप्समार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग है। उसका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अप्समार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है।

महत्त्वपूर्ण कार्य

हिंदी साहित्य की सेवा करने वालों में द्विवेदी जी का विशेष स्थान है। द्विवेदी जी की अनुपम साहित्य-सेवाओं के कारण ही उनके समय को द्विवेदी युग के नाम से पुकारा जाता है।

भारतेंदु युग में लेखकों की दृष्टि की शुद्धता की ओर नहीं रही। भाषा में व्याकरण के नियमों तथा विराम-चिन्हों आदि की कोई परवाह नहीं की जाती थी। भाषा में आशा किया, इच्छा किया जैसे प्रयोग दिखाई पड़ते थे। द्विवेदी जी ने भाषा के इस स्वरूप को देखा और शुद्ध करने का संकल्प किया। उन्होंने इन अशुद्धियों की ओर आकर्षित किया और लेखकों को शुद्ध तथा परिमार्जित भाषा लिखने की प्रेरणा दी।

द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को कविता के लिए विकास का कार्य किया। उन्होंने स्वयं भी खड़ी बोली में कविताएं लिखीं और अन्य कवियों को भी उत्साहित किया। श्री मैथिली शरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय जैसे खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवि उन्हीं के प्रयत्नों के परिणाम हैं।

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों से हिंदी साहित्य को संपन्न बनाया। उन्हीं के प्रयासों से हिंदी में अन्य भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद हुए तथा हिंदी-संस्कृत के कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे गए।

चार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिंदी भाषा और साहित्य के युगद्रष्टा और युगस्रष्टा लेखक थे। ज्ञान और सृजन के क्षेत्रों में युगद्रष्टा वह व्यक्ति होता है, जो अपने कर्मक्षेत्र के वर्तमान की वास्तविक स्थिति को देखता है और उसके भविष्य की संभावनाओं को पहचानता है। यह गंभीर दायित्व वही व्यक्ति पूरा कर सकता है, जिसकी समझ और सोच का दायरा व्यापक हो और समग्रतापरक भी। युगस्रष्टा वह व्यक्ति होता है, जो ज्ञान या सृजन के क्षेत्र में नई दृष्टियों और प्रवृत्तियों का निर्माता, प्रेरक और मार्गदर्शक हो। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

अपने समय के हिंदी समाज, हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य की वर्तमान स्थितियों को देख रहे थे और उसकी समस्याओं और संभावनाओं को पहचान भी रहे थे, इसीलिए वे उसकी प्रगति के प्रेरक और मार्गदर्शक बन सके। वे युगस्रष्टा भी थे क्योंकि उन्होंने एक ओर खड़ीबोली हिंदी का नया सुव्यवस्थित स्वरूप निर्मित किया, खड़ीबोली को गद्य और काव्य की भाषा बनाने का अथक प्रयत्न किया, हिंदी कविता को नई दिशा और नई राह दिखाने का मार्गदर्शन किया और हिंदी साहित्य के पाठकों को साहित्य की सीमित दुनिया से निकालकर व्यापक हिंदी समाज में दिलचस्पी लेने, उसके बारे में सोचने, उसकी दशा पर विचार करने के लिए समाज-विज्ञानों के ज्ञान से जुड़ने के लिए प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया।

इस प्रक्रिया को मूर्तरूप देने के लिए उन्होंने स्वयं समाज-विज्ञान के विभिन्न विषयों पर निबंध और पुस्तकें लिखने के साथ ही अनेक मानक ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद भी किया। द्विवेदी जी के संपादन में निकलने वाली पत्रिका सरस्वती में प्रकाशित प्रत्येक निबंध और कविता की भाषा को सुधारने और परिष्कृत करने का कठिन काम उन्होंने पूरे मनोयोग और परिश्रम से किया। ऐसे युगद्रष्टा और युगस्रष्टा के नाम से उनका युग जाना जाता है, इसीलिए द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ की प्रस्तावना में नन्ददुलारे वाजपेयी ने द्विवेदी जी के समय के हिंदी साहित्य को द्विवेदी युग का साहित्य कहा है।

द्विवेदी जी की साहित्य की धारणा अत्यंत व्यापक थी। वे केवल कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना को ही साहित्य नहीं मानते थे। उनके अनुसार किसी भाषा में मौजूद संपूर्ण ज्ञानराशि साहित्य है। साहित्य का यही अर्थ वांग्मय शब्द से व्यक्त होता है। अपनी इसी धारणा को ध्यान में रखकर उन्होंने कविता, कहानी और आलोचना के साथ अर्थशास्त्र, भाषाशास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, जीवनी, दर्शन, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि के ग्रन्थों और निबंधों का लेखन किया। उनके साहित्य निर्माण की प्रक्रिया जितनी व्यापक है उतनी ही विविधतामयी भी। साहित्य के लेखन की ऐसी व्यापक प्रक्रिया वाले लेखक हिंदी में बहुत कम हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण नामक अपनी पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि "द्विवेदी जी का गद्य-साहित्य आधुनिक हिंदी साहित्य का ज्ञान-कांड है, जो साहित्यकार स्वतः स्फूर्त भावोद्गारों से संतुष्ट नहीं हो जाते, उनके लिए यह ज्ञान-कांड सदा महत्वपूर्ण रहेगा। द्विवेदी जी सबसे पहले राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री हैं। इसका प्रमाण यह

है कि उनकी जो एक मात्र बड़ी पुस्तक है, वह राजनीति और अर्थशास्त्र की पुस्तक 'सम्पत्तिशास्त्र' है। भारत के संदर्भ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की वैसी आलोचना उस समय तक अंग्रेजी में भी प्रकाशित नहीं हुई थी। हिंदी में अब भी उसके टक्कर की दूसरी पुस्तक नहीं है।"

रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के ज्ञान संबंधी लेखन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''द्विवेदी जी ने समाजशास्त्र और इतिहास के बारे में जो कुछ लिखा है, उससे समाज विज्ञान और इतिहास लेखन के विज्ञान की नवीन रूप रेखाएँ निश्चित होती हैं। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का नवीन मूल्यांकन किया। एक ओर उन्होंने इस देश के प्राचीन दर्शन, विज्ञान, साहित्य तथा संस्कृति के अन्य अंगों पर हमें गर्व करना सिखाया, एशिया के सांस्कृतिक मानचित्र में भारत के गौरवपूर्ण स्थान पर ध्यान केंद्रित किया, दूसरी ओर उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों का तीव्र खंडन किया, और उस विवेक-परंपरा का उल्लेख सहानुभूतिपूर्वक किया जिसका संबंध चार्वाक और वृहस्पति से जोड़ा जाता है। आध्यात्मवादी मान्यताओं, धर्मशास्त्रों की स्थापनाओं को उन्होंने नई विवेक दृष्टि से परखना सिखाया।''

द्विवेदी जी के संपादन में निकलने वाली पत्रिका सरस्वती ज्ञान की पत्रिका थी। डॉ. रामविलास शर्मा ने सरस्वती के बारे में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की यह राय उद्धृत की है, ''जनता को आवश्यकता थी नवीन ज्ञान की, स्वाधीनता की पहचान की और आधुनिक ज्ञान-स्नान की। सरस्वती द्वारा वे उस पुनीत कार्य को भले प्रकार कर सकते थे, वे थे कुशल संपादक और कर्त्तव्य-परायण, उन्हें पता था कि मासिक पत्रिका ज्ञान-प्रचार के लिए अत्यंत उपयोगी अध्यापिका बन सकती है और वे उसके द्वारा दूर ग्रामों में बैठे हुए देहातियों तक ज्ञान का दीपक जला सकते हैं। उन्होंने सरस्वती को ऊँचे दर्ज की ज्ञान-पत्रिका बनाने का दृढ़ संकल्प किया और वे थे धुन के पूरे।'' इसी संकल्प और साधना के माध्यम से द्विवेदी जी ने सरस्वती को हिंदी नवजागरण की प्रतिनिधि पत्रिक बनाया। उन्होंने हिंदी समाज और संपूर्ण भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य की समस्याओं और संभावनाओं के बारे में सोचने और लिखने के लिए लेखकों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया।

द्विवेदी जी ने सरस्वती को नए ज्ञान के साथ-साथ नए सृजन की पत्रिका के रूप में भी विकसित किया। द्विवेदी युग का शायद ही कोई कवि या कहानीकार हो, जिसकी रचनाएँ सरस्वती में न छपी हों। इस तथ्य के बारे में डॉ.

शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि ''उस समय का कोई ऐसा लेखक नहीं जो बाद में प्रसिद्ध हुआ हो और पहले उसकी रचनाएँ सरस्वती में न छपी हों। प्रसिद्ध हो, चाहे अज्ञात नाम, द्विवेदी जी अपना ध्यान इस बात पर केंद्रित करते थे कि वह लिखता क्या है। इसलिए सरस्वती में रचना छपने का मतलब यह था कि वह एक निश्चित स्तर की है। बहुत से लोग अपने या दूसरों के बारे में प्रशंसात्मक लेख आदि छपवाना चाहते थे, उनका विरोध करने में द्विवेदी जी ने दृढ़ता का परिचय दिया। साथ ही सरस्वती का उपयोग उन्होंने कभी भी व्यक्तिगत ख्याति के लिए नहीं किया।'' (वही, पृ.सं. 365)

हिंदी कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, द्विवेदी जी की प्रेरणा, प्रभाव और मार्गदर्शन की उपलब्धि हैं। रामविलास शर्मा ने यह भी लिखा है कि ''द्विवेदी जी ने अतुकांत छंद रचना के लिए जो आंदोलन चलाया, उसकी पूर्ण सिद्धि निराला का मुक्त छंद है।'' (वही, पृ.सं. 386)

हिंदी नवजागरण को जैसे भारतेंदु हरिश्चंद्र ने बंगाल नवजागरण से जोड़ा था, वैसे ही महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी नवजागरण को महाराष्ट्र के नवजागरण से जोड़ा। द्विवेदी जी ने सरस्वती में मराठी के प्रसिद्ध लेखक विष्णु शास्त्री चिपलूनकर, संस्कृतज्ञ वामन शिवराम आपटे, प्रसिद्ध मूर्तिकार म्हातरे, गायनाचार्य विष्णु दिगम्बर, रायबहादुर रंगनाथ नृसिंह मुधोलकर, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और इतिहासवेत्ता विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े आदि के साथ ताराबाई, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, कुमारी गोदावरी बाई, सौभाग्यवती रखमाबाई जैसी स्त्रियों पर लेख लिखकर उनके विचार, व्यावहार, कला-साधना और संघर्ष से हिंदी पाठकों को परिचित कराया। इन प्रक्रिया में उन्होंने हिंदी नवजागरण को अधिक व्यापक और समावेशी बनाया।

पिछले कुछ दशकों से हिंदी में स्त्री-विमर्श का विकास हो रहा है। स्त्री-विमर्श पर विचार के प्रसंग में हिंदी के पुराने लेखकों-आलोचकों के स्त्री संबंधी दृष्टिकोणों की भी छानबीन हो रही है, लेकिन आज तक किसी ने स्त्री-विमर्श में महावीर प्रसाद द्विवेदी के स्त्री संबंधी लेखक और दृष्टिकोण की चर्चा नहीं की है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के सामाजिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, उनकी स्त्री संबंधी दृष्टि। आर्चाय द्विवेदी स्त्री-पुरुष समानता के प्रबल समर्थक थे, वे समाज और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों की उपस्थिति और सक्रियता के हिमायती थे। उन्होंने मराठी नवजागरण के निर्माताओं पर लिखते हुए उस नवजागरण के प्रमाण के रूप में अनेक प्रबुद्ध मराठी स्त्रियों पर भी लेख

लिखे हैं। द्विवेदी जी ने ताराबाई, रखमाबाई, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और पंडिता गोदावरी बाई की साधना और संघर्षों का विवेचन किया है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी भारतीय स्त्रियों की शिक्षा के पक्षधर थे। सन् 1914 ईस्वी में स्त्री शिक्षा के समर्थन में उनका एक लेख छपा था, जिसका शीर्षक था 'स्त्री-शिक्षा के विरोधी कुतर्कों का खंडन'. यह लेख उस समय की पत्रिकाओं में प्रकाशित स्त्री-शिक्षा विरोधी लेखकों का जवाब था। इस लेख का आरंभ इस तरह होता है, ''बड़े शोक की बात है, आजकल भी ऐसे लोग विद्यमान हैं, जो स्त्रियों को पढ़ाना उनके और गृह-सुख के नाश का कारण समझते हैं, और, लोग भी ऐसे-वैसे नहीं, सुशिक्षित लोग - ऐसे लोग जिन्होंने बड़े-बड़े स्कूलों और शायद कालेजों में भी शिक्षा पाई है, जो धर्मशास्त्र और संस्कृत के ग्रंथ साहित्य से परिचय रखते हैं, और जिनका पेशा कुशिक्षितों को शिक्षित करना, कुमार्गगामियों को सुमार्गगामी बनाना और अधार्मिकों को धर्म्मतत्त्व समझाना है।'' (महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली-7, पृ.सं. 153)

इसी लेख में द्विवेदी जी पुरातन-पंथियों को ललकारते हुए कहते हैं, ''मान लीजिए कि पुराने जमाने में भारत की एक भी स्त्री पढ़ी लिखी न थी, न सही. उस समय स्त्रियों को पढ़ाने की जरूरत न समझी गई होगी, पर अब तो है। अतएव पढ़ाना चाहिए। हमनें सैंकड़ों पुराने नियमों, आदेशों और प्रणालियों को तोड़ दिया है या नहीं ? तो, चलिए, स्त्रियों को अपढ़ रखने की इस पुरानी चाल को भी तोड़ दें। हमारी प्रार्थना तो यह है कि स्त्री-शिक्षा के विपक्षियों को क्षण भर के लिए भी इस कल्पना को अपने मन में स्थान न देना चाहिए कि पुराने जमाने में यहाँ की सारी स्त्रियाँ अनपढ़ थीं अथवा उन्हें पढ़ने की आज्ञा न थी। जो लोग पुराणों में पढ़ी-लिखी स्त्रियों के हवाले माँगते हैं, उन्हें श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध, के उत्तरार्ध का त्रेपनवाँ अध्याय पढ़ना चाहिए। उसमें रुक्मिणी-हरण की कथा है। रुक्मिणी ने जो एक लंबा-चौड़ा प्रेम-पत्र एकांत में लिखकर, एक ब्राह्मण के हाथ, श्रीकृष्ण को भेजा था, वह तो प्राकृत में न था।'' (वही, पृ. सं. 155)

पुरातन-पंथी कह रहे थे कि स्त्रियाँ पढ़कर अनर्थ करती हैं। द्विवेदी जी उनसे कहते हैं, ''स्त्रियों का किया हुआ अनर्थ यदि पढ़ाने ही का परिणाम है तो पुरुषों का किया हुआ अनर्थ भी उनकी विद्या और शिक्षा ही का परिणाम समझना चाहिए। बम के गोले फेंकना, नरहत्या करना, डाके डालना, चोरियाँ करना, घूस लेना, व्यभिचार करना - यह सब पढ़ने-लिखने ही का परिणाम हो

तो ये सारे कालेज, स्कूल और पाठशालायें बंद हो जानी चाहिए।'' (वही, पृ. सं. 155) द्विवेदी जी की स्पष्ट राय है कि ''पढ़ने-लिखने में स्वयं कोई बात ऐसी नहीं, जिससे अनर्थ हो सके। अनर्थ का बीज उसमें हरगिज नहीं, अनर्थ पुरुषों से भी होते हैं। - अपढों और पढ़े-लिखों, दोनों से. अनर्थ, दुराचार और पापाचार के कारण और ही होते हैं और वे व्यक्ति-विशेष का चाल-चलन देखकर जाने भी जा सकते हैं। अतएव स्त्रियों को अवश्य पढ़ाना चाहिए. जो लोग यह कहते हैं कि पुराने जमाने में यहाँ स्त्रियाँ न पढ़ती थीं अथवा उन्हें पढ़ने की मुमानियत थी, वे या तो इतिहास से अभिज्ञता नहीं रखते या जान बूझ कर लोगों को धोखा देते हैं। समाज की दृष्टि में ऐसे लोग दंडनीय हैं, क्योंकि स्त्रियों को निरक्षर रखने का उपदेश देना समाज का अपकार और अपराध करना है - समाज की उन्नति में बाधा डालना है।'' (वही, पृ.सं. 156)

द्विवेदी जी का 1903 ईस्वी का एक लेख है 'गुजरातियों में स्त्री-शिक्षा'. इस लेख में द्विवेदी जी ने गुजरात में स्त्री-शिक्षा के प्रचार का ब्यौरा देते हुए अंत में लिखा है कि ''पुरुषों के समान इस देश की स्त्रियाँ भी सब प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हैं। उनके लिए केवल अवकाश, अवसर और सुभीते की आवश्यकता है।'' (वही, पृ.सं. 161)

द्विवेदी जी का 1905 ईस्वी का एक लेख है 'जापान की स्त्रियाँ'. इस लेख में उन्होंने लिखा है, ''जापानी लोग स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने के बड़े पक्षपाती हैं। स्त्री-शिक्षा का वहाँ बहुत प्रचार है। इस देश में यदि 100 में 1 लड़की मदरसे पढ़ने जाती है तो जापान में 100 में 20 लड़कियाँ मदरसे जाती हैं। स्त्रियों में वहाँ अनेक कवि, चित्रकार, अध्यापिकायें और संपादक हैं। हजारों पुस्तकें स्त्रियों ने बनाई हैं। जापान में पुरुष जैसे समाज का सुधार करने में संकोच नहीं करते, वैसे स्त्रियाँ भी संकोच नहीं करती, जो पुरानी रीतियाँ हानिकारिणी अथवा निरर्थक हैं, उनको वे छोड़ देती हैं और नई-नई अनुकूल रीतियों को स्वीकार कर लेती हैं। जापान के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पुरुष और अधिकारी अपनी अपनी स्त्रियों के साथ बाहर निकलते हैं, सभाओं में जाते हैं, और योरप तथा अमेरिका वालों से भी सस्त्रीक मिलते हैं।'' (वही, पृ.सं. 162-163)

द्विवेदी जी जहाँ कहीं स्त्री की पराधीनता देखते थे, तो वे उसकी कड़ी आलोचना करते थे। 'जापान की स्त्रियाँ' लेख में उन्होंने लिखा है, ''जापान यद्यपि योरप वालों की सभ्यता की नकल प्रतिदिन करता जाता है तथापि वहाँ की स्त्रियाँ स्वतंत्र नहीं हैं, वे अपने पति के कुटुम्बियों का बड़ा आदर करती

हैं। पति को तो वे स्वामी क्या देवता समझती हैं। हमारे देश के समान जापान में भी स्त्रियों को हर अवस्था में दूसरों के प्रति अधीन रहने की शास्त्रज्ञा है। लड़कपन में वे अपने माता-पिता की आज्ञा में रहती हैं। विवाह हो जाने पर वे पति की आज्ञा में रहती हैं और विधवा जो जाने पर वे पुत्र की आज्ञा में रहती हैं। वे अपनी पति की हृदय से सेवा करती हैं। पति जब घर से कहीं बाहर जाता है, तब मस्तक झुकाकर उसको वे प्रणाम करती हैं और भोजन के समय सदा उसके पास वे उपस्थित रहती हैं।'' (वही, पृ.सं. 163)

द्विवेदी जी का एक और लेख है, 'जापान में स्त्री-शिक्षा'. इस लेख में उन्होंने लिखा है कि ''आजकल तो जापन में स्त्री-शिक्षा ने बहुत ही जोर पकड़ा है। बौद्ध धर्म्म के प्रचार के पहले स्त्रियों की जो स्थिति वहाँ थी उससे भी उनकी आजकल की स्थिति ऊँची हो गई है। जापानियों का अब यह ख्याल है कि जिसकी स्त्री शिक्षित नहीं, उसे पूरा-पूरा सुख कदापि नहीं मिल सकता, उसका जीवन आनंद से नहीं व्यतीत हो सकता, उसे गृहस्थाश्रम का मजा हरगिज नहीं प्राप्त हो सकता। वहाँ के राजा ने कानून जारी कर दिया है कि सात वर्ष की उम्र होने पर लड़कियों को मदरसे भेजना ही चाहिए। न भेजने से माँ-बाप को दण्ड दिया जाता है।'' (वही, पृ.सं. 165)

द्विवेदी जी कला के क्षेत्र में, विशेष रूप से संगीत में भारतीय स्त्रियों की प्रगति के पोषक थे। उनका 1903 ईस्वी का एक लेख है, 'स्त्रियाँ और संगीत'. उस लेख में द्विवेदी जी ने दुःख व्यक्त किया है कि आजकल संगीत के क्षेत्र में स्त्रियों की प्रवीणता और भागीदारी पर आपत्ति की जाती है। उन्होंने लिखा है ''इस समय इस देश में गाने-बजाने की कला स्त्रियों के लिए प्रायः अनुचित समझी जाती है और नाचने की तो महा ही निन्दा मानी जाती है। इन कलाओं को लोग वार-वनिताओं का व्यवसाय समझते हैं और यदि किसी कुलीन कामिनी के बिना ताल स्वर के ढोलक पीटने के सिवा गायन और वादन में कुछ भी अधिक उत्साह दिखाया, तो लोग उसके और उसके आत्मीयों की ओर बुरी दृष्टि से देखने लगते हैं।'' (वही, पृ.सं. 158)

स्त्री-पुरुष समानता के बारे में द्विवेदी जी का द्वंद्वरहित दृष्टिकोण उनके एक लेख 'स्त्रियों का सामाजिक जीवन' (1913 ईस्वी) में इस रूप में व्यक्त हुआ है, ''कितने ही सभ्य और शिक्षित देशों में स्त्रियाँ ऐसे सैकड़ों काम करने लगी हैं, जिन्हें पुरुष अब तक अपनी ही मिलकियत समझते थे। कचहरियों में, कारखानों में, दुकानों में लाखों स्त्रियाँ तरह-तरह के पेशे करती हैं। कितनी ही

स्त्रियाँ तो अपने काम से पुरुषों के भी कान काटती हैं। विद्या, विज्ञान, आविष्कार और पुस्तक-रचना में भी स्त्रियों ने नामवरी पाई है।'' (वही, पृ.सं. 150-151)

द्विवेदी जी के समाज संबंधी चिंतन के प्रत्येक पक्ष का एक अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ होता था। उनके स्त्री संबंधी चिंतन और लेखन में भी यह संदर्भ मौजूद है। जापान की स्त्रियों के बारे में उनके दृष्टिकोण का उल्लेख हो चुका है। उसके साथ ही उन्होंने स्त्री जीवन के कुछ और अंतराष्ट्रीय संदर्भों पर लिखा है। उनका 1907 का एक लेख है, 'एक तरुणी का नीलाम'. इस लेख में द्विवेदी जी ने अमेरिका की एक युवती की नीलामी का ब्यौरा दिया। जुलाई 1903 ईस्वी का द्विवेदी जी का एक लेख 'कुमारी एफ. पी. काव' के बारे में है, जो आयरलैण्ड की थी, द्विवेदी जी ने उनके संघर्षशील जीवन के बारे में लिखा है। उन्होंने लंबे समय तक स्त्रियों के मताधिकार के लिए राजनीतिक संघर्ष किया था। द्विवेदी जी ने कुमारी काव के एक और स्त्री संघर्ष के बारे में यह लिखा है, ''विलायत में जो लोग अपनी स्त्रियों को निर्दयता से मारते-पीटते थे और उन्हें नाना प्रकार के दुःख देते थे, उनसे विवाह-संबंध तोड़ने का अधिकार स्त्रियों को पहले न था। इससे उन स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा होती थी, परंतु कुमार काव के उद्योग से पारलियामेंट ने अब यह नियम कर दिया है कि ऐसी स्त्रियाँ अपने पतियों से अलग हो सकती हैं। अतएव हर साल सैकड़ों सुशील स्त्रियाँ अपने मद्यप, दुर्व्यसनी और दुट पतियों के हाथ से छूट कर नीति-मार्ग का अवलम्बन करते हुए समय बिताती हैं।'' (महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली-4, पृ.सं. 203) आचार्य द्विवेदी ने 1904 ईस्वी के एक लेख में लेडी जेन ग्रे के दुःखद अंत की करुण-कहानी लिखी है, जिससे आचार्य की सहृदयता का पता लगता है।

सन् 1933 ईस्वी में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को काशी नागरी प्रचारणी सभा की ओर से यह अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया था। यह एक विशाल ग्रन्थ है। इस ग्रंथ के बारे में कुछ भी कहने से पहले इससे जुड़ी दो विडंबनाओं की बात करना जरूरी है। पहली विडंबना यह है कि अभिनंदन ग्रंथ में जो प्रस्तावना प्रकाशित है, उसके अंत में श्याम सुन्दर दास और कृष्ण दास के नाम हैं, जिससे लगता है कि प्रस्तावना इन्हीं दोनों व्यक्तियों की लिखी हुई है, लेकिन सच्चाई यह नहीं है। इस प्रस्तावना के लेखक श्याम सुन्दर दास और कृष्ण दास नहीं हैं। इसके वास्तविक लेखक नन्ददुलारे वाजपेयी हैं। नंददुलारे वाजपेयी की पुस्तक हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी में यह प्रस्तावना श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी शीर्षक से शामिल है। अपनी पुस्तक में वाजपेयी जी ने

निबंध के आरंभ में यह टिप्पणी दी है, ''लेखक का यह निबंध सन् 33 के आरंभ में लिखा गया था, जब द्विवेदी जी जीवित थे, यह लेख सर्वप्रथम 'द्विवेदी-अभिनंदन ग्रन्थ' की प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित हुआ था, किंतु कारणवश वहाँ लेखक का नाम न दिया जाकर उसके स्थान पर ग्रंथ के संपादकों का नाम दे दिया गया था। यहाँ यह पहली बार लेखक के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।'' (पृ.सं. 37) अभिनंदन ग्रंथ में शामिल प्रस्तावना और वाजपेयी जी के निबंध में अंतर केवल इतना है कि प्रस्तावना के अंत में चार-पाँच वाक्य ऐसे जोड़े गए हैं, जो मूल लेख में नहीं हैं।

दूसरी विडंबना का संबंध प्रस्तावना के इस कथन से है, ''साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी में उनकी कौन-सी कृतियाँ रखी जायेंगी ? क्या उनके अनुवाद? 'कुमारसंभव-सार', 'रघुवंश', 'हिंदी-महाभारत' अथवा 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'स्पेंसर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसाएँ', 'स्वाधीनता' और 'संपत्तिशास्त्र ? किंतु ये सब तो अनुवाद ही हैं, इनमें द्विवेदी जी की भाषा-शैली स्वयं ही परिष्कृत हो रही थी - क्रमशः विकसित हो रही थी - और आज-कल की दृष्टि से उसमें और भी परिवर्तन किए जा सकते हैं। इन सबमें भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी, किंतु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्त्व बहुत कुछ ढूँढने पर ही मिलेगा, जो इस समय हम लोगों के सामने विशद रूप में आया है।'' (पृ.सं. 1)

आश्चर्य की बात यह है कि द्विवेदी जी के विख्यात अनुवादों के साथ उनकी मौलिक पुस्तक संपत्तिशास्त्र को भी रखा गया है और उसको भी अनुवाद ही कहा गया है, अगर वह अनुवाद है तो किस भाषा की किस पुस्तक का ? द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक की भूमिका में संपत्तिशास्त्र शास्त्र के लेखन की जरूरत, तैयारी और प्रक्रिया के बारे में विस्तार से लिखा है, फिर भी प्रस्तावना लेखक उसे अनुवाद कह रहे थे। इससे यह साबित होता है कि प्रस्तावना लेखक ने न संपत्तिशास्त्र शास्त्र की भूमिका पढ़ी है न मूल पुस्तक, इसी बात को ध्यान में रखकर डॉ. रामविलास शर्मा ने महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण में व्यंग्य और आक्रोश के साथ लिखा है, 'इसे (संपत्तिशास्त्र को) लिखने में द्विवेदी जी ने घोर परिश्रम किया था। उनकी सबसे मौलिक और महत्वपूर्ण कृति यही है। इसके बारे में उन्होंने आत्मकथा वाले निबंध में लिखा था। ''समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से संपत्ति शास्त्र नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख

सका,'' इस संपत्ति शास्त्र को अपने अभिनंदन वाले ग्रन्थ में अनुवाद बताया देखकर द्विवेदी जी के मन की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है।'' (पृ.सं. 378)

प्रस्तावना के आरंभ में यद्यपि द्विवेदी जी के स्थाई साहित्य या उनके साहित्य के स्थायित्व के बारे में असमंजस ही अधिक है, फिर सरस्वती के माध्यम से उनके युगद्रष्टा और युगस्रष्टा रूपों और कार्यों का महत्वपूर्ण मूल्यांकन है। प्रस्तावना में लिखा गया है कि ''वे ऐसे-वैसे संपादक नहीं थे, सिद्धांतवादी और सिद्धांतपालक संपादक थे, जान पड़ता है कि वे निश्चित नियम बना कर उनके अनुसार अपनी रुचि के लेख मँगाते और वही छापते थे। संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थानय खड़ी बोल कविता का उन्नयन, नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भावाभिव्यंजनय संसार की वर्तमान प्रगति का परिचयय साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा - जो कुछ उनके लक्ष्य थे, उनकी प्राप्ति अपनी निश्चित धारणा के अनुसार 'सरस्वती' के द्वारा करना उनका सिद्धांत था, अत: 'द्विवेदी-काल की 'सरस्वती' में केवल द्विवेदी जी की भाषा की प्रतिमा ही गठित नहीं है, उनके विचारों का भी उसमें प्रतिबिंब पड़ा है। उन्होंने किसी संस्था की स्थापना नहीं की, परंतु सरस्वती की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक - तीन-तीन संस्थाओं के संचालक - का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया।'' (पृ.सं. 2)

प्रस्तावना में यह भी कहा गया है कि द्विवेदी जी ने खड़ीबोली के गद्य और पद्य में जो लेखनी चलाई वह इतिहास में 'द्विवेदी-कलम' के नाम से प्रचलित होगी। प्रस्तावना की निम्नलिखित मान्यताएँ मननीय हैं और माननीय भी:

(क) गद्य और पद्य की भाषा एक करके जनता तक नवीन युग का संदेश पहुँचाना उनका उद्देश्य था।

(ख) उन्होंने उदात और लोक-हितैषी विचारों के पक्ष में शक्तिशाली प्रेरणा उत्पन्न की थी।

(ग) स्वभाव भी रुखाई, कपास की भांति निरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में कपास की खेती की - निरस विशद गुणमय फल जासू।

(घ) द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं, जो समय पाकर प्रेमचंद जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला-फला।

(ङ) द्विवेदी युग को साहित्य के कर्म-योग का युग कहना चाहिए।

(च) द्विवेदी जी की साहित्य-शैली का भविष्य अब तक यथोचित प्रकाश में नहीं आया है। हिंदी प्रदेश की जनता ने उसे अपने समाचारपत्रों की भाषा में अच्छी मात्रा में अपना लिया है और हिंदी के प्लेटफार्म पर भी उसकी तूती बोलने लगी है।

(छ) व्यावहारिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विवेचन और देशव्यापी विचार-विनिमय जब खड़ी बोली का आधार लेकर चलने लगेंगे, तब द्विवेदी जी की भाषा को भली-भाँति फूलने-फलने का मौका मिलेगा।

इस अभिनंदन ग्रन्थ में भूमिका और प्रस्तावना के बाद मुख्य भाग में निबंध, कविताएँ, श्रद्धांजलियाँ, विदेशी विद्वानों और लेखकों के संदेश के साथ एक चित्रावली भी है। निबंधों के विषयों और श्रद्धांजलियों की विविधता चकित करने वाली है। इसमें अंग्रेजी में रेव. एडविन ग्रीब्स, पी. शेषाद्रि, प्रो. ए. बेरिन्निकोव और संत निहाल सिंह के लेख हैं। श्रद्धांजलि के अंतर्गत एक ओर महात्मा गाँधी के साथ भाई परमानन्द हैं तो दूसरी ओर अनेक विदेशी विद्वानों और लेखकों के संदेश हैं। उस युग के अधिकांश कवियों की कविताएँ इस अभिनंदन ग्रंथ में हैं।

इस ग्रंथ में जो चित्रवली है उसका एक विशेष महत्व यह है कि अभिनंदन ग्रंथ के आज के पाठक आधुनिक हिंदी साहित्य के ऐसे लेखकों-कवियों का रूप-दर्शन कर सकेंगे, जिनका वे केवल नाम जानते हैं।

विभिन्न भाषाओं, समाजों, साहित्यों और परंपराओं के बारे में महावीर प्रसाद द्विवेदी के दृष्टिकोण में जैसी व्यापकता और उदारता थी, वैसी ही व्यापकता और उदारता इस ग्रंथ के निबंधों में है। इसके निबंध-लेखक उत्तर भारत के लगभग सभी क्षेत्रों के हैं और कुछ यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान भी हैं। इन निबंधों में संस्कृत, हिंदी, गुजराती और अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य का प्रतिनिधित्व है। इसके निबंध-लेखक दार्शनिक, संस्कृतज्ञ, इतिहासकार, हिंदी के आलोचक, पुरातत्त्ववेत्ता, पत्रकार, भाषा-वैज्ञानिक, काव्यशास्त्री, चित्रकला के पारखी, वास्तुकलाविद्, समाज-वैज्ञानिक, वैज्ञानिक और अरबी-फारसी-उर्दू के विद्वान हैं।

इस ग्रंथ के कुछ निबंध आज भी पठनीय हैं और वे अन्यत्र शायद ही मिले। ऐसे दो निबंध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमें एक निबंध मुंशी महेश प्रसाद मौलवी-आलिम-फाजिल का है। निबंध का शीर्षक है 'प्राचीन अरबी कविता'. इस निबंध में जिस अरबी कविता का विवेचन है वह अरब में इस्लाम

के पैदा होने के पहले की कविता है। इस निबंध से यह भी जाहिर होता है कि प्राचीन अरबी में पुरुषों के समानांतर स्त्रियाँ भी कविता करती थीं. निबंधकार ने लिखा है, ''स्त्री-मंडल के कविता-क्षेत्र में सबसे अधिक प्रसिद्धि 'तुमाजिर' नामक स्त्री की है, जो प्राय: 'खन्सा' के नाम से विख्यात है। यह प्राचीन काल की कवयित्रियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसकी कविताओं का एक संग्रह छप चुका है। अनेक लोगों ने इसकी कवित्व-शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।'' (पृ.सं. 214)

निबंधकार ने बाद में यह भी लिखा है, ''यब बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि प्राचीन-कालीन अरब में शिक्षा-प्रसार नहीं था। फिर भी वहाँ के लोगों में दैवी कवित्व-शक्ति थी। इसी कारण पुरुषों के सिवा अनेक स्त्रियाँ भी कवि हुई हैं। उन स्त्री-कवियों की कविताएँ केवल करुण-रसात्मक ही नहीं, बल्कि अन्य काव्य-रसों से भी युक्त हैं। इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि अरबी भाषा के कवि-सम्राट, 'इमरूल कैस' और अन्य कवियों के बीच में एक कविता-संबंधी वाद-विवाद हुआ था, जिसे एक स्त्री ने ही बड़ी योग्यता के साथ निपटाया था।'' (पृ.सं. 215)

दूसरा निबंध मौलाना सैयद हुसैन शिबली नदवी का है, जिसका शीषर्क है 'उर्दू क्योंकर पैदा हुई'. इस निबंध के आरंभ में शिबली साहब ने लिखा है कि हिंदुस्तान में हमेशा भाषाओं की बहुलता रही है। उन्होंने यह भी लिखा है कि अमीर खुसरो हर जगह अपनी जबान को हिन्दवी कहते हैं। इस निबंध के अंत में शिबली साहब ने हिंदी-उर्दू की बुनियादी एकता पर ध्यान दिया है। उन्होंने लिखा है, ''देहलवी हिंदी तो अपनी जगह पर रह गई, लेकिन इस हिंदी में उस वक्त के नए जरूरियात के बहुत-से अरबी, फारसी और तुर्की के वह अलफाज आकर मिले, जिनके मानी और मुसम्मा उन मुल्कों से आए थे। दूसरा फर्क यह पैदा हुआ कि वह हिंदी अपने खत में और यह उर्दू फारसी खत में लिखी जाने लगी। रफ्त:-रफ्त: एक और फर्क भी पैदा हुआ कि पुरानी हिंदी के बहुत-से लफ्जों में, जो जबान पर भारी और सकील थे, जमान: और जबान की फितरी तरक्की के असूल के मुताबिक, हल्कापन और खूबसूरती और खुशआवाजी पैदा करने की कोशिश की गई। इसी तरह अरबी और फारसी और तुर्की के लफ्जों में भी अपनी तबीयत के मुताबिक इसने तब्दीलियाँ पैदा की।''

6

रामचन्द्र शुक्ल

हिंदी आलोचना एवं समकालीन विमर्श

आलोचक शुक्ल जी ने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएं किये हैं। इनका सैद्धांतिक समीक्षा ग्रंथ 'रस मीमांसा' है और इनकी व्यावाहरिक आलोचना का प्रौढ़तम रूप 'तुलसी', 'जायसी ग्रंथावली', 'भ्रमर-गीतसार' तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रस्तुत विभिन्न कवियों के संक्षिप्त एवं सारगर्भित परिचात्मक टिप्पणियों में प्रकट हुआ है।

समलोचना पर विचार करते हुए शुक्लजी ने लिखा हैं- हमारे हिन्दी साहित्य में समालोचना पहले-पहल केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में प्रकट हुई।जाहिर है कि यह जो तृतीय उत्थान में गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्त:प्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया। वह समूचे भारतीय साहित्य शास्त्र का आधुनिकीकरण था। लगभग 14 वर्ष की अवस्था में उन्होंने एडिसन के 'एसे आन इमेजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' नाम से किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने सर टी. माधवराव की पुस्तक 'माइनर हिट्स' का अनुवाद 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा' मेगस्थनीज के 'भारत विवरण' राखालदास बन्धोपाध्याय के बंगला उपन्यास 'शंशाक' और एडविन आरनाल्ड के 'लाइट आफ एशिया' का पद्यबन्ध अनुवाद 'बुद्धचरित' नाम से किया। शुक्लजी के विचारों का निर्माण करने में जर्मनी के

जगद्विख्यात प्रणितत्त्ववेत्ता हैकल की पुस्तक 'रिडिल आफ दि युनीवर्स' का बहुत योगदान है। विश्व प्रपन्च' की भूमिका पढ़ने पर इस बात का पता चलता है कि उन्होंने भौतिक विज्ञान, दर्शन तथा मनोविज्ञान का गहरा अध्ययन किया था। शुक्लजी को आलोचक और इतिहासकार में इतनी ख्याति मिल गई कि लोगों का ध्यान इस तथ्य की ओर प्रायः नहीं जाता कि उन्होंने 'हिन्दी शब्द सागर' का सम्पादन किया था।

शुक्लजी का मानना है कि- साहित्य का कार्य क्षेत्र मानव हृदय के भावों का व्यापार है। इस भावयोग की साधना से मनुष्य का हृदय 'स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर' उठकर 'लोक-सामान्य भावभूमि' पर पहुंच जाता है। सर्जनात्मक रचना के क्षेत्र में रीतिकालीन दरबारों के संकुचित मण्डल को तोड़कर कविता को लोक-सामान्य भूमि पर लाने का कार्य भारतेन्दु से लेकर आज तक सच्चे और समर्थ कवि करते आए हैं। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' और हिन्दी आलोचना' में डॉ. रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि हिन्दी साहित्य में शुक्लजी का वही महत्त्व है, जो उपन्यासकार प्रेमचन्द या कवि निराला का। व्यक्ति धर्म के स्थान पर उन्होंने लोक-धर्म को श्रेयस्कर बताया। उन्होंने साहित्य में जीवन को और जीवन में साहित्य को प्रतिष्ठित किया।

शुक्लजी की समीक्षा का सैद्धांतिक आधार भारतीय 'रसवाद' हैं। उन्होंने 'रसवाद' को आध्यात्मिक भूमि से उतार कर मनोविज्ञान आधार पर प्रतिष्ठित किया। 'रस' को काव्य की आत्मा स्वीकार करके शेष समस्त मान्यताओं को या तो इसी के भीतर समाविष्ट किया या अप्रासंगिक प्रमाणित किया। उन्होंने बताया कि 'शब्द-शक्ति' रस और अलंकार ये विषय-विभाग काव्य समीक्षा के लिए इतने उपयोगी हैं कि इनको अन्तर्भूत करके संसार की नयी-पुरानी सब प्रकार की कविताओं की बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक विचेचन हो सकती हैं। 'रस-सिद्धांत' के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने रीति, अलंकार, ध्वनि, गुण, वक्रोक्ति और औचित्य सिद्धांतों का अध्ययन भी किया था, किन्तु काव्य में इनकी स्थिति उन्हें वहीं तक मान्य थी, जहां तक ये रस के पोषक, उपकारक, आश्रित या रक्षक बनकर उपस्थित हो। रस को परिभाषित करते हैं कि - लोक-हृदय में हृदय को लीन होने की दशा का नाम 'रस दशा' है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। यानी काव्य हमें

जीवन और जगत के ऊपर उठाकर कहीं अन्यत्र नहीं ले जाता, बल्कि हमें उसके और अधिक निकट ला देता है। कविता जीवन से पलायन नहीं है, बल्कि वह हमें जीवन में अधिक व्यापक पैमाने पर अधिक गहराई में उतारती हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से प्रकट है कि शुक्लजी की दृष्टि में हृदय की मुक्तावस्था, लोक-हृदय में लीन होने की दशा लगभग एक ही है। इस मनोदशा तक पहुंचना ही काव्य का चरम लक्ष्य है। शास्त्रीय दृष्टि से इसे ही 'आलम्बन' और 'आश्रय' की यथोचित प्रतिष्ठा कहा जा सकता है। आश्रय तो कोई सहृदय मनुष्य ही हो सकता है, किन्तु आलम्बन रूप में हम मानव तथा मनावेत्तर समस्त चराचर का चित्रण कर सकते हैं। काव्य में ऐसी स्थितियां भी आती हैं जब हम आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ-अर्जुन जब सहसा युधिष्ठिर पर क्रोधन्ध होकर दौड़ पड़ते हैं या रावण जब सीता के प्रति क्रोध व्यक्त करता है, तब न तो हमारा तादात्म्य अर्जुन के साथ होता है और न रावण के साथ ही, शास्त्रों में ऐसी स्थिति 'रसाभास' और शुक्ल ने इसे 'रस' का मध्यम कोटि माना है।

शुक्लजी अनुभूति और बोध को सहचर मानते हैं। वे भाव और ज्ञान में विरोध नहीं मानते। उनका मानना है कि जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है, वैसे-वैसे उसका भाव-प्रसार भी, पशु का ज्ञान मनुष्य से हीन है तो उसके प्रेम की पहुंच भी उसी मात्रा में सीमित है, जब तक हमें किसी वस्तु का बोध नहीं होता तब तक हमें उसकी रसानुभूति भी नहीं हो सकती। वे रसानुभूति में बोध वृत्ति की उपस्थिति मानते हैं। भाव और ज्ञान में विरोध न मानने का ही परिणाम है कि शुक्लजी कामायनी में चित्रित श्रद्धा और इंडा के रूपों से सहमत नहीं हो पाते।

शुक्लजी ने रूप विधान तीन माने हैं, पहला प्रत्यक्ष रूप विधान से मन में प्रत्यक्ष देखी वस्तुओं का प्रतिबिंब खड़ा होता है। दूसरा जब अतीत में प्रत्यक्ष देखी वस्तुओं के रूप-व्यापार का स्मरण करके हम रस-मग्न हो उठते हैं, उस समय हमारे मन में स्मृति रूप-विधान होता है, लेकिन कवि लोग एक और प्रकार का रूप-विधान करते हैं। इसमें वे देखे या जाने हुए पदार्थो के आधार पर नवीन वस्तु-व्यापार विधान खड़ा करते हैं। इसी को संभावित या कल्पित रूप विधान कहा जाता है। कल्पना कवि को अपार शक्ति और क्षेत्र प्रदान करती है, लेकिन कवि को कल्पना का उपयोग अत्यन्त सावधानी से करना पड़ता है। वस्तुतः कल्पना की उड़ान वह नहीं भर सकता। उड़ान उसने भरी नहीं कि लड़खड़ा

कर गीरा। कल्पना करने में उसे निरन्तर अपने कदम मजबूती से जमीन पर ही रखने पड़ते हैं। जिसे हम कल्पना कहते हैं वह और कुछ नहीं यथार्थ को ही सजाना-संवारना है।

व्यावहारिक समीक्षा

शुक्लजी ने व्यावाहरिक समीक्षा सिद्धांत साहित्यिक रचनाओं के आधार पर ही स्थापित किया। प्राचीन साहित्य में से समीक्षा के लिए तुलसीदास, सूरदास और जायसी को चुना। संस्कृत के कवियों में उन्हें वाल्मीकि, भवभूति और कालिदास विशेष रूप से प्रिय थे। उनके काव्य-चिन्तन की प्रणाली को विकसित करने में उनके प्रिय कवियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। करूणा और प्रेम का जो विशद विवेचन उन्होंने किया है, आनन्द की साधनावस्था और सिद्धावस्था की जो कल्पना की है तथा काव्य में लोकमंगल का जो महत्त्व स्थापित किया है, वह सब अपने प्रिय कवियों की व्याख्या करने के उपक्रम में। उनका कहना है कि यद्यपि करूणा और प्रेम दोनों मंगल का विधान करने वाले भाव है, लेकिन करूणा की प्रवृत्ति रक्षा की ओर होती है, जबकि प्रेम की प्रवृत्ति रंजन की ओर। करूणा का सम्बन्ध उन्होंने साधनावस्था से जोड़ा, और प्रेम का सिद्धावस्था से। उनके अनुसार श्रेष्ठ भारतीय प्रबन्ध काव्यों का बीज भाव करूणा ही है। यही नहीं करूणा और प्रेम सम्बन्धी अपने विचारों की मानों पुष्टि करते हुए कहते हैं, 'लोककल्याण पक्ष को लेकर चलने के कारण इस मार्ग में उपासना के लिए ब्रह्म का वह सगुण रूप लिया, जिसकी अभिव्यक्ति रक्षा, पालन और रंजन करने वाले रूप में होती है। वे स्पष्ट कहते हैं- सगुणमार्गी भक्त के लिए भगवान की ओर ले जाने वाला रास्ता इसी संसार के बीच से होकर जाता है।

आचार्य शुक्ल ने भ्रमरगीत में सूरदास की सीमाओं का उल्लेख किया, सूरदास ने करूणा और प्रेम में से प्रेम को ही अपने काव्य के लिए चुना था। वे आनन्द की साधना या प्रयत्नावस्था के नहीं, सिद्धावस्था के कवि हैं। इन्होंने भगवान का प्रेममय रूप ही लिया, इससे हृदय की कोमल वृत्तियों को ही आश्रय और आलम्बन खड़े किए। शुक्लजी ने सुझाया कि कृष्ण चरित्र में भी करूणा नामक बीज भाव के प्रसार का पर्याप्त अवकाश था, किन्तु सूर की वृत्ति इस ओर नहीं रमी है। सूरसागर के उत्कृष्ट स्थल वे हैं, जहां कवि ने बालकृष्ण की लीलाओं का और गोपियों के संयोग शृंगार का वर्णन किया है। बालक कृष्ण की लीलाओं का चित्रण लोकोत्तर भूमि पर नहीं, बल्कि लोक-सामान्य भूमि पर

किया। वे हमारे देख-सुने बच्चों जैसा आचरण करते हैं, इसलिए उनका वर्णन हमें मार्मिक एवं आकर्षक लगता है। कृष्ण का लीला का चित्रण केवल प्रकृति क्षेत्र में नहीं, बल्कि कर्म क्षेत्र में भी हुआ है।

तुलसीदास शुक्लजी के प्रिय कवि हैं। यह निर्णय कर पाना कठिन है कि तुलसी ने उनके आलोचनात्मक मानदण्ड के निर्माण में सहयोग दिया है। शुक्लजी काव्य में प्रबन्धत्व को अधिक महत्त्व देते थे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे मुक्तक को नापसन्द करते हैं, उन्होंने कहा हैं- प्रबन्ध काव्य विस्तृत मरूस्थलीय है तो मुक्तक चुना हुआ गुलदशता। उन्होंने प्रमाणित किया कि भक्ति शास्त्रनुमोदित लोक-धर्म के माधुर्य को प्रतिष्ठित करने वाली है। वह संसार में व्याप्त दुःख, अनास्था और निराशा को दूर करके आशा का संचार और मंगल का विधान करने वाली है। राम का आयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन गमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा। इन मर्मस्पशी स्थलों में भी सबसे अधिक मर्मस्पशी शुक्लजी को रामवनगमन प्रसंग लगता है। शुक्लजी को प्रेम का वही स्वरूप अधिक रूचिकर लगता है, जो करूणा पर आधारित हो। लोकमंगल और लोकरक्षा में व्यक्ति इसी भाव के द्वारा प्रवृत्त होता और इसके प्रसार का पूरा अवकाश प्रबन्ध काव्य में ही होता है।

पद्मावत प्रेम काव्य है। उसमें नायक करूणा का भाव लेकर लोक रक्षार्थ कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त नहीं होता है, लेकिन यह आवश्य है कि प्रेम विघ्न-बाधामय, कंटकाकीर्ण मार्ग पर संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ता है। लोकरक्षार्थ न सही लेकिन विस्तृत कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त होने का अवसर नायक को मिला है। जायसी और सूफी कवियों की जिस विशेषता ने शुक्लजी को सबसे अधिक आकृष्ट किया वह है प्रकृति वर्णन। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है- विरह की जिस उत्कटता की अनुभूति सूफी काव्य में मिलता है वह उत्कटता और तीव्रता पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में नहीं मिलती।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में प्राचिन एवं नवीन कवियों के सम्बन्ध में टिप्पणियां भी दी हैं-

(क) केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी, जो एक कवि में होनी चाहिए।

(ख) जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जीतनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में

सफल होगा। वह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल (4 अक्टूबर, 1884- 2 फरवरी, 1941) हिन्दी आलोचक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और कवि थे। उनके द्वारा लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का इतिहास, जिसके द्वारा आज भी काल निर्धारण एवं पाठ्यक्रम निर्माण में सहायता ली जाती है। हिंदी में पाठ आधारित वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाव, मनोविकार सम्बंधित मनोविश्लेषणात्मक निबंध उनके प्रमुख हस्ताक्षर हैं। शुक्ल जी ने इतिहास लेखन में रचनाकार के जीवन और पाठ को समान महत्त्व दिया। उन्होंने प्रासंगिकता के दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रत्ययों एवं रस आदि की पुनर्व्याख्या की।

जीवन परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं. 1884 में बस्ती जिले के अगोना नामक गांव में हुआ था। पिता पं. चंद्रबली शुक्ल की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई तो समस्त परिवार वहीं आकर रहने लगा। जिस समय शुक्ल जी की अवस्था नौ वर्ष की थी, उनकी माता का देहान्त हो गया। मातृ सुख के अभाव के साथ-साथ विमाता से मिलने वाले दु:ख ने उनके व्यक्तित्त्व को अल्पायु में ही परिपक्व बना दिया।

अध्ययन के प्रति लग्नशीलता शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही थी, किंतु इसके लिए उन्हें अनुकूल वातावरण न मिल सका। मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल से 1901 में स्कूल फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण की। उनके पिता की इच्छा थी कि शुक्ल जी कचहरी में जाकर दफ्तर का काम सीखें, किंतु शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। पिता जी ने उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इलाहाबाद भेजा, पर उनकी रुचि वकालत में न होकर साहित्य में थी। अत: परिणाम यह हुआ कि वे उसमें अनुत्तीर्ण रहे। शुक्ल जी के पिताजी ने उन्हें नायब तहसीलदारी की जगह दिलाने का प्रयास किया, किंतु उनकी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण यह संभव न हो सका।

1903 से 1908 तक 'आनन्द कादम्बिनी' के सहायक संपादक का कार्य किया। 1904 से 1908 तक लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक

रहे। इसी समय से उनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे और धीरे-धीरे उनकी विद्वता का यश चारों ओर फैल गया। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर 1908 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिन्दी शब्दसागर के सहायक संपादक का कार्य-भार सौंपा, जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा किया। श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं. रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है। वे नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी संपादक रहे। 1919 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए, जहाँ बाबू श्याम सुंदर दास की मृत्यु के बाद 1937 से जीवन के अंतिम काल (1941) तक विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित किया।

2 फरवरी, सन् 1941 को हृदय की गति रुक जाने से शुक्ल जी का देहांत हो गया।

कृतियाँ

शुक्ल जी की कृतियाँ तीन प्रकार की हैं।

मौलिक कृतियाँ

तीन प्रकार की हैं–

आलोचनात्मक ग्रंथ– सूर, तुलसी, जायसी पर की गई आलोचनाएं, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, रसमीमांसा आदि शुक्ल जी की आलोचनात्मक रचनाएं हैं।

निबन्धात्मक ग्रन्थ– उनके निबन्ध चिंतामणि नामक ग्रंथ के दो भागों में संग्रहीत हैं। चिंतामणि के निबन्धों के अतिरिक्त शुक्लजी ने कुछ अन्य निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें मित्रता, अध्ययन आदि निबन्ध सामान्य विषयों पर लिखे गये निबन्ध हैं। मित्रता निबन्ध जीवनोपयोगी विषय पर लिखा गया उच्चकोटि का निबन्ध है, जिसमें शुक्लजी की लेखन शैली गत विशेषतायें झलकती हैं। क्रोध निबन्ध में उन्होंने सामाजिक जीवन में क्रोध का क्या महत्व है, क्रोधी की मानसिकता-जैसै समबन्धित पेहलुओं का विश्लेश्ण किया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ–हिंदी साहित्य का इतिहास उनका अनूठा ऐतिहासिक ग्रंथ है।

अनुदित कृतियाँ

शुक्ल जी की अनुदित कृतियां कई हैं। 'शशांक' उनका बंगला से अनुवादित उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी से विश्वप्रपंच, आदर्श जीवन, मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, कल्पना का आनन्द आदि रचनाओं का अनुवाद किया।

सम्पादित कृतियाँ

सम्पादित ग्रन्थों में हिंदी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भ्रमरगीत सार, सूर, तुलसी जायसी ग्रंथावली उल्लेखनीय है।

वर्ण्य विषय

शुक्ल जी ने प्रायः साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं। साहित्यिक निबंधों के 3 भाग किए जा सकते हैं -

सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबंध- 'कविता क्या है', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्यावाद', आदि निबंध सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं। आलोचना के साथ-साथ अन्वेषण और गवेषणा करने की प्रवृत्ति भी शुक्ल जी में पर्याप्त मात्रा में है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

व्यावहारिक आलोचनात्मक निबंध- भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि आदि निबंध व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंध- मनोवैज्ञानिक निबंधों में करुणा, श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, ग्लानि, क्रोध, लोभ और प्रीति आदि भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गए निबंध आते हैं। शुक्ल जी के ये मनोवैज्ञानिक निबंध सर्वथा मौलिक हैं। उनकी भांति किसी भी अन्य लेखक ने उपर्युक्त विषयों पर इतनी प्रौढ़ता के साथ नहीं लिखा। शुक्ल जी के निबंधों में उनकी अभिरुचि, विचारधारा अध्ययन आदि का पूरा-पूरा समावेश है। वे लोकादर्श के पक्के समर्थक थे। इस समर्थन की छाप उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है।

भाषा

शुक्ल जी के गद्य-साहित्य की भाषा खड़ी बोली है और उसके प्रायः दो रूप मिलते हैं -

क्लिष्ट और जटिल

गंभीर विषयों के वर्णन तथा आलोचनात्मक निबंधों के भाषा का क्लिष्ट रूप मिलता है। विषय की गंभीरता के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गंभीर विषयों को व्यक्त करने के लिए जिस संयम और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह पूर्णतः विद्यमान है, अतः इस प्रकार को भाषा क्लिष्ट और जटिल होते हुए भी स्पष्ट है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है।

सरल और व्यावहारिक

भाषा का सरल और व्यावहारिक रूप शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है। इसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों को ही अधिक ग्रहण किया गया है यथा स्थान उर्दू और अंग्रेजी के अतिप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा को अधिक सरल और व्यावहारिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने तड़क-भड़क अटकल-पच्चू आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दों को भी अपनाया है, तथा नौ दिन चले अढ़ाई कोस, जिसकी लाठी उसकी भैंस, पेट फूलना, काटों पर चलना आदि कहावतों व मुहावरों का भी प्रयोग निस्संकोच होकर किया है।

शुक्ल जी का दोनों प्रकार की भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अत्यंत संभत, परिमार्जित, प्रौढ़ और व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष है, उसमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं। शब्द मोतियों की भांति वाक्यों के सूत्र में गुंथे हुए हैं। एक भी शब्द निरर्थक नहीं, प्रत्येक शब्द का अपना पूर्ण महत्व है।

शैली

शुक्ल जी की शैली पर उनके व्यक्तित्त्व की पूरी-पूरी छाप है। यही कारण है कि प्रत्येक वाक्य पुकार कर कह देता है कि वह उनका है। सामान्य रूप से शुक्ल जी की शैली अत्यंत प्रौढ़ और मौलिक है। उसमें गागर में सागर पूर्ण रूप से विद्यमान है। शुक्ल जी की शैली के मुख्यतः तीन रूप हैं -

आलोचनात्मक शैली

शुक्ल जी ने अपने आलोचनात्मक निबंध इसी शैली में लिखे हैं। इस शैली की भाषा गंभीर है। उनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। वाक्य छोटे-छोटे, संयत और मार्मिक हैं। भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है कि उनको समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

गवेषणात्मक शैली

इस शैली में शुक्ल जी ने नवीन खोजपूर्ण निबंधों की रचना की है। आलोचनात्मक शैली की अपेक्षा यह शैली अधिक गंभीर और दुरूह है। इसमें भाषा क्लिष्ट है। वाक्य बड़े-बड़े हैं और मुहावरों का नितांत अभाव है।

भावात्मक शैली

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंध भावात्मक शैली में लिखे गए हैं। यह शैली गद्य-काव्य का सा आनंद देती है। इस शैली की भाषा व्यावहारिक है। भावों की आवश्यकतानुसार छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के वाक्यों को अपनाया गया है। बहुत से वाक्य तो सूक्ति रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे - बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

इनके अतिरिक्त शुक्ल जी के निबंधों में निगमन पद्धति, अलंकार योजना, तुकदार शब्द, हास्य-व्यंग्य, मूर्तिमत्ता आदि अन्य शैलीगत विशेषताएं भी मिलती हैं।

साहित्य में स्थान

शुक्ल जी शायद हिन्दी के पहले समीक्षक हैं, जिन्होंने वैविध्यपूर्ण जीवन के ताने बाने में गुंफित काव्य के गहरे और व्यापक लक्ष्यों का साक्षात्कार करने का वास्तविक प्रयत्न किया। उन्होंने 'भाव या रस' को काव्य की आत्मा माना है। पर उनके विचार से काव्य का अंतिम लक्ष्य आनन्द नहीं, बल्कि विभिन्न भावों के परिष्कार, प्रसार और सामंजस्य द्वारा लोकमंगल की प्रतिष्ठा है। उनकी दृष्टि से महान् काव्य वह है, जिससे जीवन की क्रियाशीलता उजागर हुई हो। इसे उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था कहा है। शुक्ल जी की समस्त मौलिक विचारणा लोकजीवन के मूर्त आदर्शों से प्रतिबद्ध है। 'हमारे हृदय का सीधा लगाव प्रकृति के गोचर रूपों से है' इसलिए कवि का सबसे पहला और

आवश्यक काम 'बिंबग्रहण' या 'चित्रनुभव' कराना है। पूर्ण विंबग्रहण के लिए वर्ण्य वस्तु की 'परिस्थिति' का चित्रण भी अपेक्षित होता है। इस प्रकार शुक्ल जी काव्य द्वारा जीवन के समग्र बोध पर बल देते हैं। जीवन में और काव्य में किसी तरह की एकांगिता उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुक्ल जी की स्थापनाएँ शास्त्रबद्ध उतनी नहीं हैं जितनी मौलिक। उन्होंने अपनी लोकभावना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का संस्कार किया। इस दृष्टि से वे आचार्य कोटि में आते हैं। काव्य में लोकमंगल की भावना शुक्ल जी की समीक्षा की शक्ति भी है और सीमा भी। उसकी शक्ति काव्यनिबद्ध जीवन के व्यावहारिक और व्यापक अर्थों के मार्मिक अनुसंधान में निहित है। पर उनकी आलोचना का पूर्वनिश्चित नैतिक केंद्र उनकी साहित्यिक मूल्यचेतना को कई अवसरों पर सीमित भी कर देता है, उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि आलोच्य कवि की मनोगति की पहचान में अद्वितीय है।

जायसी, सूर और तुलसी की समीक्षाओं द्वारा शुक्ल जी ने व्यावहारिक आलोचना का उच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया। इनमें शुक्ल जी की काव्यमर्मज्ञता, जीवनविवेक, विद्वत्ता और विश्लेषणक्षमता का असाधारण प्रमाण मिलता है। काव्यगत संवेदनाओं की पहचान, उनके पारदर्शी विश्लेषण और यथातथ्य भाषा के द्वारा उन्हें पाठक तक संप्रेषित कर देने की उनमें अपूर्व सामर्थ्य है। इनके हिंदी साहित्य के इतिहास की समीक्षाओं में भी ये विशेषताएँ स्पष्ट हैं।

शुक्ल जी के मनोविकार संबंधी निबन्ध परिणत प्रज्ञा की उपज हैं। इनमें भावों का मनोवैज्ञानिक रूप स्पष्ट किया गया है तथा मानव जीवन में उनकी आवश्यकता, मूल्य और महत्व का निर्धारण हुआ है। भावों के अनुरूप ही मनुष्य का आचरण ढलता है– इस दृष्टि से शुक्ल जी ने उनकी सामाजिक अर्थवत्ता का मनोयोगपूर्वक अनुसंधान किया। उन्होंने मनोविकारों के निषेध का उपदेश देनेवालों पर जबर्दस्त आक्रमण किया और मनोवेगों के परिष्कार पर जोर दिया। ये निबंध व्यावहारिक दृष्टि से पाठकों को अपने आपको और दूसरों को सही ढंग से समझने में मदद देते हैं तथा उन्हें सामाजिक दायित्व और मर्यादा का बोध कराते हैं। समाज का संगठन और उन्नयन करनेवाले आदर्शों में आस्था इन रचनाओं का मूल स्वर है। भावों को जीवन की परिचित स्थितियों से संबद्ध करके काव्य की दृष्टि से भी उनका प्रामाणिक निरूपण हुआ है।

अपने सर्वोत्तम रूप में शुक्ल जी का विवेचनात्मक गद्य पारदर्शी है। गहन विचारों को सुसंगत ढंग से स्पष्ट कर देने की उनमें असामान्य क्षमता है। उनके

गद्य में आत्मविश्वासजन्य दृढ़ता की दीप्ति है। उसमें यथातथ्यता और संक्षिप्तता का विशिष्ट गुण पाया जाता है। शुक्ल जी की सूक्तियाँ अत्यंत अर्थगर्भ होती हैं। उनके विवेचनात्मक गद्य ने हिंदी गद्य पर व्यापक प्रभाव डाला है।

शुक्ल जी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी का गौरवग्रंथ है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया कालविभाग, साहित्यिक धाराओं का सार्थक निरूपण तथा कवियों की विशेषता बोधक समीक्षा इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। शुक्ल जी की कविताओं में उनके प्रकृतिप्रेम और सावधान सामाजिक भावों द्वारा उनका देशानुराग व्यंजित है। इनके अनुवादग्रंथ भाषा पर इनके सहज आधिपत्य के साक्षी हैं।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। जिस क्षेत्र में भी कार्य किया उस पर उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी। आलोचना और निबंध के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा युगप्रवर्तक की है। 'काव्य में रहस्यवाद' निबंध पर इन्हें हिन्दुस्तानी अकादमी से 500 रुपये का तथा चिंतामणि पर हिन्दी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा 1200 रुपये का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी की आलोचनात्मक दृष्टि

हिंदी साहित्य के आधार स्तम्भ चिंतक आलोचक उत्कृश्ट निंबधकार दार्शनिक सिद्धहस्त कवि और नीर – क्षीर विवेक से संपन्न संपादक तथा सफल अध्यापक आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म 1884 ई . में पूर्वी उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। 1908 ई . से लेकर 1919 ई . तक का समय शुक्ल जी के मानसिक बौद्धिक विकास के निखार ओर उत्कर्ष का है। इस दौरान उन्होंने इतिहास दर्शन मनोविज्ञान और विज्ञान का उत्साह से अध्ययन किया और लेखन के नाम पर कोश के लिए संगृहीत शब्दों पर प्रामाणिक टिप्पणियों के साथ नागरी प्रचारिणी पत्रिका को नया रूप देने और समृद्ध करने के लिए विभिन्न विषयों पर निबंध लिखा। शुक्ल जी एक सुविख्यात निबंधकार एवं समालोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं, किंतु उनके साहित्य के जीवन का आरंभ कविता कहानी और नाटक रचना से होता है। उनकी प्रथम रचना एक कविता थी, जो 1896 ई . में आनंद कादंबिनी में भारत और बसंत नाम से छपी थी। इसी तरह उनके द्वारा – लिखित कहानी ग्यारह वर्ष का समय सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, जो हिंदी की प्रारंभिक चार सर्वक्षेष्ठ कहानियों में से है। शुक्ल जी का साहित्यिक जीवन विविध पक्षों वाला है। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी

बोली में फुटकर कविताएँ लिखी तथा एडविन आर्नलड के लाइट ऑफ एशिया का ब्रजभाषा में बुद्धचरित के नाम से पद्य भी किया 1919 ई . में मालवीय जी के आग्रह पर जब शुक्ल जी ने अध्यापन आरंभ किया तब उन्होंने विश्वविद्यालय में हिंदी विषय के स्वीकृत होने के बाद पाठयक्रम के अनुरूप पुस्तकें उपलब्ध न होने की समस्या को चुनौती के रूप में स्वीकार किया। स्वयं स्तरीय ग्रंथों की रचना की और संपादन कार्य भी किया। रस मीमांसा तथा चिंतामणि में संग्रहित लेख जायसी तुलसी और सूर पर लिखी उनकी महत्त्वपूर्ण आलोचनाएँ हिंदी साहित्य में मील का पत्थर मानी जाने वाली कृति हिंदी साहित्य का इतिहास एवं अनेक ग्रंथ इसी अकादमिक चुनौती को स्वीकार करके रचे गए।

मुख्य - शब्द

नीर - क्षीर, विवक, इतिहास दर्शन, मनोविज्ञान, पत्रिका, सरस्वती, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, हिंदी साहित्य।

भूमिका:

शुक्ल जी द्वारा विरचित प्रमुख मौलिक और अनूदित रचनाएँ निम्नलिखित हैं -

रामचंद्र शुक्ल की आलोचना - दृष्टि

आलोचना उन विधाओं में से है, जो पश्चिमी साहित्य की नकल पर नही; बल्कि अपने साहित्य को समझने - बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के कारण जन्मी और विकसित हुई और इस आलोचना को परिपक्वता शुक्ल युग में आकर मिली। इस युग के केन्द्रीय समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी रहे, यद्यपि उनके समकालीन बाबू गुलाबराय बाबू श्याम - सुंदर दास आदि समीक्षक भी आलोचना क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। शुक्ल जी ने आलोचना के तेवर व कलेवर में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया। निश्चित मानदंड व अद्‌भुत सहृदयता के साथ शुक्ल जी ने आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण - दोष रस अलंकार आदि की समीचीनता इन्हीं सब परंपरागत विषयों तक पहुँचीं। स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना, जिसमें किसी कवि की भावना का सूक्ष्म व्यवच्छेदन होता है उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विषेशताएँ दिखाई जाती है, बहुत कम दिखाई पड़ी। शुक्ल जी आधुनिक आलोचना के अधिकृत आचार्य है। उन्होंने पारंपरिक काव्य चिंतन को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि तथा पाश्चात्य काव्य चिंतन

के आलोक में पुनव्यीख्यायित करके समृद्ध और प्रासंगिक बनाया। जहाँ वे भरत अभिनव और मम्मट की परंपरा से जुड़े दिखाई देते हैं, वहीं दूसरी ओर अरस्तू आर्नल्ड रिचर्डस और इलियट से संवाद स्थापित करते भी नजर आते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि वैज्ञानिक प्रगतिशील एवं इहलौकिक थी। शुक्ल जी एक युग विधेयक और आलोचनात्मक मानदंड के निर्माता हैं। उन्होंने हिन्दी आलोचना को नई दिशा एवं नई जमीन दी है। हिंदी साहित्य में कविता के क्षेत्र में जो स्थान निराला का रहा और उपन्यास के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचद का रहा आलोचना के क्षेत्र में वही स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है। इनके द्वारा तैयार किए गए प्रतिमान मौलिक और प्रौढ़ थे। अपने अतीत व समकालीनता से जुड़ कर उन्होंने आलोचना की दशा व दिशा बदल दी। इनकी सूक्ष्म दृष्टि ने अब तक हुई आलोचनाओं की कमजोरियों की परख लिया था। अत: वे साहित्य की बहिरंग सजावट के बजाय काव्य की आत्मा, रचनाकार की दृष्टि तथा उनके उद्देश्य को समझ सके और यही समझ उन्हें अन्य आलोचकों से अलग खड़ा करती है।

शोध - प्रविधि

इस शोध - पत्र के लिए शोध सामग्री अधिकांश रूप में द्वितीयक स्त्रोतों से ग्रहण की गई है। इसमें ऐतिहासिक विश्लेषण व वर्णनात्मक दृष्टिकोण के साथ - साथ शोधकर्ता ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों को भी स्थान दिया है। शोध सामग्री प्रसिद्ध पुस्तकों पत्र - पत्रिकाओं व समाचार पत्रों से प्राप्त की गई हैं।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि आलोचना पद्धति के लिए काफी संश्लिष्ट थी, परन्तु वह स्पष्टता लिए हुए भी थी। उन्होंने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दानों प्रकार की आलोचनाओं में बखूबी हस्तक्षेप किया। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि के महत्त्व को इस तथ्य से जाना जा सकता है कि उनके समकालीन आलोचक उनकी द्यरा में तो बहे ही तथा उनके बाद के आलोचकों ने भी या तो उनकी परंपरा का निर्वाह किया या उनकी परंपरा से जुड़कर ही नई धारा संज्ञान करवाया। इस प्रकार शुक्ल जी के बाद की आलोचना उनकी दृष्टियों के समर्थन या विरोध में खड़ी इमारत सी लगती है। आज भी वे उतना ही महत्त्व रखते है। जितना उस समय में। उनके तर्क आज भी अकाट्य है, और उनकी पैनी - पारखी नजर आज भी काबिले - तारीफ है। हिंदी की लगभग 150 वर्षों की आलोचना के इतिहास में शुक्ल जी केंद्रीय पुरूष आज भी बने हुए हैं, उनको छोड़ कर किसी साहित्यिक विषय पर कोई चर्चा न शुरू की जा सकती है और

न ही समाप्त। इसी से उनकी आलोचना दृष्टि की उपादेयता समझी जा सकती है। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि पूर्णत: स्पष्ट परिपक्व एवं विकसित है। उनकी सैद्धान्तिक व व्यावहारिक आलोचना दृष्टि को निम्न रूप से समझा जा सकता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि

सैद्धान्तिक दृष्टि से वे रस सिद्यान्त के समर्थक और पोषक हैं, परन्तु उन्होंने शब्द शक्ति रीति और अलंकार को कमतर महत्त्व नहीं दिया है। उन्हीं के शब्दों में शब्द – शक्ति रस रीति और अलंकार – अपने यहां की ये बातें काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांस में कितने काम की है मैं समझता हूँ इनके संबंध में अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। देशी – विदेशी नई – पुरानी सब प्रकार की कविताओं की समीक्षा का मार्ग इनका सहारा लेने से सुगम होगा।

उनकी आलोचना दृष्टि सूक्ष्म तार्किक विश्लेष्णात्मक व निगमनात्मक विधि पर आधारित थी। वे रसवादी लोकमंगलवादी जैसे उच्च आदर्शो को लेकर साहित्य में चलते हैं। वे हमेशा कबीर की तरह प्रत्यक्षवादी बने रहे। जाति वातावरण तथा क्षण इन तीनों तत्त्वों को उन्होंने काव्य की आत्मा में झांक कर देखा। उनकी स्थिति जाति समाज से जुड़ी थी वातावरण चित्तवृत्ति को बनाने वाली स्थिति तथा क्षण वह काल था, जिसमें रह कर रचनाकार ने उप साहित्य का सृजन किया था। इन तीनों तत्त्वों को लेकर वे उस छत पर जा पहुँचते हौ जहां से खड़े होकर साहित्यकार ने अपने युग को अपनी कविता को उन कवियों में व्याप्त दर्द को लिखा और महसूस किया था। उनकी प्रत्यक्षवादी दृष्टि उनकी आलोचना को वैज्ञानिक चिंतन देती है, जिसके द्वारा वे साहित्य की आलोचना करते हैं। उनकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ चिंतामणि के निबंधों में समाई हुई है। उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रतिमान निश्चित किए हैं। इसे कविता क्या है काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था साधारणीकरण और व्यक्ति – वैचित्रयवाद रसात्मक बोध् के विविध रूप काव्य और प्रकृति काव्य में अर्थ की योग्यता प्रत्यक्षानुभूति एवं रसानुभूति निबंध क्या है आदि निबंधों द्वारा समझी जा सकती है। उन्होंने पारंपारिक रसवादी विवेचन जो अपने आरंभिक दिनों के व्यापकता के बावजूद पंडित जगन्नाथ तक आते – आते संकीर्ण हो गया था, उसे लोकमंगल के आदर्शवादी उच्च भावभूमि से अनुवाद कराकर पुन: उसमें विस्फोट सा कर

दिया। साहित्य में सरसता महसूस की जाने लगी। हर साहित्य को लोकमंगलवाद की कसौटी पर कसा जाने लगा। रहस्यवाद (काव्य में रहस्यवाद) की जटिलताओं से दूर जाकर इन्होंने स्पष्टता को महत्व दिया। साधारणीकरण की व्याख्या में उन्होंने एक नई अवधारणा का भी सूत्रपात किया। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि वृहद जनवादी थी। हिंदी शब्दसागर भूमिका जो बाद में हिंदी साहित्य का इतिहास के रूप में आई में उन्होंने अपनी आलोचनात्मक धारणा को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया है। जिसमें जनता और साहित्य की पारस्परिक रिश्तों को स्वीकार किया गया है। उनकी आलोचना दृष्टि की सबसे बड़ी उपलब्धि लोकमंगलवाद का मान है, जिसके लट्ठे से किसी भी साहित्य की सुंदरता आदर्शपूर्ण – सामाजिक – कल्याणपरक रीति की उत्पत्ति की जा सकती है। यह कसौटी उनकी हिन्दी आलोचना को दी गई सबसे बड़ी उपलब्धि है। कविता का उद्देश्य सहृदय को लोकमानस की भावभूमि पर पहुँचा देना है। यह कहना निश्चित ही जनतांत्रिक परंपरा को सुदृढ़ करना है। वे लोक की भूमि पर अपने कदम मजबूती से जमाकर जीवन एवं साहित्य पर दृष्टि डालते है और उसकी व्याख्या करते हैं। काव्यशास्त्र संबंधी विवेचन में भी उन्होंने अपने दृष्टिकोण से भाव विभाग एवं रस की पुनः व्याख्या की है। भाव उनके लिए मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है, प्रत्यक्ष बोध् अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गुण संश्लेषण का नाम भाव है। मुक्त सहृदय मनुष्य अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है। लोक सहृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है। उनकी प्रत्येक दृष्टि तार्किक व मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए थी रस की व्याख्या भी इससे अछूती नहीं रही।

व्यावहारिक दृष्टि

शुक्ल जी की सैद्धान्ति समीक्षा साहित्यिक रचनाओं के आधार पर स्थापित है, अतः उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्ष में संगति है। वे जहाँ सैद्धान्तिक प्रतिपादन में प्रवृत्त होते हैं, वहाँ प्रचुर उदाहरण देकर अपने कथन को प्रमाणित कर देते हैं। उनके सिद्धांत उस पर से थोपे हुए नहीं बल्कि साहित्य के रसास्वादन के माध्यम से प्राप्त हुए निष्कर्ष है, वे ही उनके समीक्षा सिद्धान्त है।

आलोचना के लिए सहृदयता आवश्यक होती है। शुक्ल जी ने प्राचीन साहित्य की युगानुकूल व्याख्या करते हुए उसे अपने युग की सौन्दर्य दृष्टि से व्याख्या कर प्रासंगिक व सौन्दर्यवान बना दिया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी,

वाल्मीकि, कालिदास को प्रासंगिक व पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय शुक्ल जी को है वे शील, शक्ति सौंदर्य को किसी भी नायक का उत्कर्षतम गुण मानते थे। शुक्ल जी का अधिकांश महत्त्वपूर्ण लेखन भूमिका के रूप में हुआ। उनके काव्यचिंतन का विकास उनके प्रिय कवियों की व्याख्या के दौरान हुआ। इससे उन्हें हर भाव के प्रति गहरी व गूढ़ जानकारी मिल गई और उनमें अंतर करने योग्य सामर्थ्य भी। भाव या मनोविकार का विशद विवेचन चिंतामणि में मिलता है। भाव या मनोविकार, ईष्या, घृणा, क्रोध, लोभ और प्रीति, श्रद्धाभक्ति, करूणा, भय अदि का उन्होंने विशद धर्म विश्लेषण व व्याख्या की तुलसी का भक्ति मानस की धर्मभूमि आनन्द की सिद्धावस्था मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास, तुलसी की भावुकता, बिहारी लाल, घनानन्द, भारतेन्दु और उनका मंडल, श्रीधर पाठक और स्वच्छंदतावाद छायावाद आदि निबंधों में उनकी व्यावहारिक आलोचना दृष्टि मिलती है। जिसमें उन्होंने करूणा, प्रेम, शील व आनंद दशा की साधनावस्था तथा सिद्धावस्था को अनुभव किया और उन सबकी लोकमंगलवादी दृष्टि से व्याख्या भी की है। आचार्य शुक्ल ने अपने सुचिंतित काव्य – प्रतिमानों का अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में बड़ी कुशलता से विनियोग किया। उनकी दृष्टि व्यावहारिक होते हुए भी सूक्ष्म विश्लेषण युक्त व मर्मग्रहिणी थी तथा वे आलोचना करते समय दूसरे आलोचकों से भी यही आशा करते थे, उनका कथन था कि इसके लिए सूक्षम विष्लेशण बुद्धि और मर्म – ग्रहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है। शुक्ल जी ने स्थायी साहित्य में स्थान पानेवाले – तुलसी, जायसी, तथा सूर पर स्वतंत्र रूप में लिखी गई अपनी समीक्षाओं में इन कवियों की विचारधारा में डूबकर उनकी अंतर्वृत्तियों का विश्लेशण करने में अपनी सूक्ष्म बुद्धि और मर्म ग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय दिया है।

तुलसीदास काल क्रमानुसार उनकी पहली समीक्षा कृति है। शुक्ल जी ने इसे गोस्वामी तुलसीदास के महत्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं तथा उनके साहित्य में छिपी दृष्टियों के लघुप्रयत्न के रूप में लिखा। इसमें उन्होंने तुलसीदास की भक्ति उनके आदर्श उनकी लोकमंगलवादी दृष्टि तथा लोकादर्श का नितांत मौलिक व उत्कृष्टतम् स्वरूप से विवेचन किया है। तुलसीदास चूंकि उनके प्रतिमान है, आर्दश है, समन्वय संस्थापक हैं, अतः शुक्ल जी ने उनके व्यकित्व व उनके काव्य की गहरी छानबीन की। किसी को महान बनाने के लिए एक बड़े आलोचक की भी आवश्यकता होती है। इस अर्थ में तुलसी का काव्य शुक्ल जी का ऋणी है। शुक्ल जी के अनुसार तुलसीदास भारतीय परम्परा

समाज व संस्कृति के जीते-जागते प्रतीक थे तथा उनका काव्य इसका प्रमाण बना। उनके राम शील,, शक्ति व सौन्दर्य से युक्त लोकोत्तर चरित्र हैं। और उनके उपास्य भी। गोस्वामी तुलसीदास के राम में भक्तों के सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट करके उसी अपनी वृत्तियों की ओर ढालने की अदभुत क्षमता है, और यही शील उनके भक्तों के भक्ति का मूल है। शुक्ल जी का इस सन्दर्भ में कथन है कि भक्ति और शील की परस्पर स्थिति भी ठीक उसी प्रकार बिम्ब - प्रतिबिम्ब भाव से है, जिस प्रकार आश्रय व आलम्बन की, और आगे चलिए तो आश्रय और आलम्बन की परस्पर स्थिति भी ठीक उसी प्रकार है जैसे– ज्ञाता और ज्ञेय की।

शुक्ल जी वस्तु परिगणन शैली को हेय मानते थे और इसीलिए वे तुलसीदास के वस्तु परिगणन शैली की उपेक्षा की प्रशंशा करते हैं। भावों के उत्कर्षक के रूप में जब गोस्वामी जी अलंकारों का प्रयोग करते हैं, तो शुक्ल जी भी इस प्रयोग का समर्थन करते हैं। शुक्ल जी मर्यादावादी थे, जिनके सामाजिक आदर्श भी उच्च भावभूमि पर स्थित थे। अत: वे तुलसीदास के काव्य में भी आदर्शो व लोक मर्यादाओं को देखते हैं। उनके रामराज्य की स्थापना की लोकमंगलवादी दृष्टि से वे अभिभूत हो जाते हैं। वे तुलसी की सहृदयता, प्रबन्धात्मक शक्ति, मेघ, भावुकता, अनुभूति, प्रभाव - सभ्यता, रसवादिता आदि की प्रशंशा करते हैं। तुलसी के काव्य की विशेषताएँ शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचना को दृष्टि प्रदान करते हैं तथा आलोचना का निर्माण करते हैं। शुक्ल जी जैसा महान आलोचक पाकर अमर हो गया।

जायसी को शुक्ल जी ने श्रेष्ठता के दूसरे पायदान पर स्थान दिया है इसका कारण पदमावत में व्याप्त प्रबंधनियोजन लोकधर्मिता तथा मानवीयता ही है। जायसी का उदात्त सहृदय एकता में विश्वास रखता है। जायसी के अनुसार हिंदू मुस्लिम सभी का सुख - दु:ख व विरह एक है। शुक्ल जी ने जायसी की अपनी दो सौ पृष्ठो की विस्तृत समीक्षा में प्रेम गाथा परंपरा जायसी का जीवन वृत्त पदमावत की कथा और उसका ऐतिहासिक आधार पदमावत की प्रेमपद्धति ईश्वर - मुख - प्रेम मत और सिद्धांत जायसी का रहस्यवाद जायसी की जानकारी आदि अनेक विषयों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है, किंतु उनकी प्रवृत्ति मुख्यत: जायसी की प्रबन्ध कल्पना, रस - निरूपण, भाव व्यंजना, अलंकार विधान और काव्यभाषा जैसे विषयों के विवेचन में ही रमी है। शुक्ल जी ने तुलसी और जायसी के समकक्ष ही सूरदास को माना है। इस संदर्भ में वे सूरदास

की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि यदि हम मनुष्य जीवन के संपूर्ण क्षेत्रों को लेते हैं तो सूरदास की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है पर यदि उनके चुने हुए शृंगार तथा वात्सल्य को लेते हैं तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। सूर के सहृदय से निकली प्रेम की तीन प्रबल धाराओं विनय के पद बाल लीला के पद और प्रेम संबंधी पद से सूर ने बड़ा भारी सागर तैयार कर दिया। इस सागर में शुक्ल जी का मन रमता है।

शुक्ल जी ने छायावाद में उपस्थित रहस्यवादिता का विरोध किया। इसी आधार पर उन्होंने कबीर के काव्य का भी विरोध किया था, परन्तु उन्होंने अभ्यान्तर प्रभाव – साम्य के अनुसार अप्रस्तुत की योजना को छायावाद की बहुत बड़ी विशेषता माना है। शुक्ल जी ने छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद को रहस्यवाद के करीब खड़ा करके उनके समस्त काव्य (खासकर कामायनी) को उस आनंदवाद का प्रवर्तक बना दिया जो एकांतिक प्रेम की वकालत करता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार शुक्ल जी की आलोचना पांडित्यपूर्ण चिंतन मौलिक विवेचन और गहन अनुशीलन का ऐतिहासिक मानदंड है। महाकवि तुलसीदास, सूरदास, जायसी, पर लिखी गयी विस्तृत समालोचनाओं तथा ग्रन्थ भूमिकाओं द्वारा जहाँ उनकी मौलिक तर्क पूर्ण और अकाटय स्थापनाएँ प्रकाश में आई वहीं हिंदी समालोचना की दृष्टि व्यवस्थित और विकसित हो पाई है। जीवन की समग्रता के कारण ही आचार्य शुक्ल विरोध का सामंजस्य देखने के आग्रीही थे। उन्होंने हिंदी की सैद्धान्तिक समीक्षा को नया तथा मौलिक रूप प्रदान किया। पाश्चात्यवादी प्रवृत्तियों एवं विचारधाराओं का गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद उसे नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का श्रेय शुक्ल जी को जाता है। उनके अनुसार किसी साहित्य में उन्नति केवल शहर की भद्दी नकल से नहीं की जा सकती। बाहर से साम्रगी आए खूब आए, परन्तु वह कूड़ा – करकट के रूप में न इकट्ठी हो जाए, उसकी कड़ी परीक्षा हो उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाए जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुँचाये शुक्ल जी प्रथम ऐसे आचार्य है, जिन्होंने हिंदी में सैद्धान्तिक समीक्षा के स्वंतत्र प्रतिमान को विकसित किया है तथा उनकी प्रासंगिकता को व्यावहारिक साहित्य पर करते हुए आगे बढ़ाया है। हिंदी के मौलिक समीक्षा शास्त्र की नींव

भी उन्होंने रखी तथा उसे दृढ़ आधार भी प्रदान किया। वे क्रांतिकारी युग प्रवर्तक आलोचक थे। उन्होंने साहित्य को रीतिवादी मानसिकता से पूर्णत: मुक्त कराते हुए रस जैसे वैयक्तिक तत्त्व को लोकमंगल में जोड़कर उसके भीतर निहित सामाजिक पक्ष को उभारा। उन्होंने संस्कृत के मानदंड व अंग्रेजी समीक्षा के प्रतिमानों से भी हिंदी आलोचना को सुसर्जित करते हुए साहित्य के संबंध में संगत दृष्टिकोण का निर्माण किया है। उनके इस दृष्टिकोण का आधार ज्ञान का भौतिकवादी सिद्धान्त है, जिसके अनुसार ज्ञान और भाव का आधार यह भौतिक जगत ही है। नलिन विलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक साहित्य का इतिहास दर्शन में कहा है कि शुक्ल जी से बड़ा समीक्षक संभवत: उस युग में किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था। यह बात देखने पर उचित ठहरती है, बल्कि ऐसा लगता है कि समीक्षक के रूप में शुक्ल जी अब भी अपराजेय है। निष्चितरूपेण शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि अत्यन्त उदात्त व्यापक जीवन – दृष्टि लिए हुए लोकमंगलवादी धरातल तक फैली हुई है। निश्चित रूपेण शुक्ल जी हिंदी आलोचना के शिखर पुरूष व अधिकृत आचार्य हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली

मैं उन लोगों में से हूँ, जिन्हें देशी भाषाओं को शिक्षा का कार्य बनाने के दावे पर प्रश्न खड़ा करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत मैं तो उन भाषाओं को एकमात्र ऐसा भंडार मानता हूँ, जिसमें भावी पीढ़ियों के उपयोग के लिए हम विश्वासपूर्वक अपनी अपेक्षाएँ संचित कर सकते हैं। इसके व्यावहारिक परिणाम के रूप में हिन्दी की स्थिति ने कुछ समय पूर्व से मेरा ध्यान आकृष्ट किया है, लेकिन, जिस विश्वास ने अब तक मेरा धीरज बनाए रखा, वह टूटने लगा है। आस-पास की परिस्थितियाँ व्यापक रूप से इस निष्कर्ष का आधार प्रस्तुत करती हैं कि किसी भी वांछित परिणाम की प्राप्ति के लिए 'न के बराबर' प्रयास किया जा रहा है। हो सकता है कि इस अन्तिम कथन को सीधे-सीधे निराशावादी दृष्टिकोण के रूप में अथवा हिन्दी के विकास से सम्बन्धित व्यक्तियों को अपमानित करने की चतुर युक्ति के रूप में लिया जाय। लेकिन सूक्ष्मतापूर्वक परखने पर यह धारणा समाप्त हो जाएगी और वास्तविक स्थिति सामने आ जाएगी। इस तथ्य से कुछ ही लोग असहमत होंगे कि भारत की सभी देशी भाषाओं में हिन्दी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भारतीय जनसंख्या के अत्यन्त सभ्य हिस्से की भाषा है। यदि ऐसा है तो फिर इसके साहित्य की

दरिद्रता को कैसे स्पष्ट किया जाय? इस प्रश्न के सन्तोषजनक उत्तर का सूत्र पाने से पहले वर्तमान हिन्दी लेखकों की सामर्थ्य पर एक उड़ती नजर अवश्य डाल लेनी चाहिए।

जहाँ तक साप्ताहिक पत्रों के सम्पादकों की बात है तो सामान्यत: वे ऐसे लोग हैं, जिन्होंने नाममात्र की शिक्षा प्राप्त की है या औपचारिक शिक्षा नहीं प्राप्त की है। यही कारण है कि कभी-कभी वे ऐसे विषयों पर पूरी तत्परता (?) और उत्साह से टिप्पणी करते पाए जाते हैं, जो शायद ही किसी विवेकशील व्यक्ति के लिए ध्यान न देने योग्य हों या जनता की भलाई से उनका कोई अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भी हो। उनके सारहीन कथन या टीका-टिप्पणियां सार्वजनिक भावों की अपेक्षा अधिकतर व्यक्तिगत विचारों से प्रभावित रहती हैं। जब वे किसी उपयोगी उद्यम के विषय में सुनते हैं तो जोर-शोर से उसकी प्रतिकूल आलोचना प्रारम्भ कर देते हैं और सफलता की सम्भावनाओं पर पानी फेर देते हैं। नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस द्वारा श्रीदत्ता के इतिहास के अनुवाद के प्रस्तावित प्रकाशन के विरोध में इनके द्वारा मचाए गए हो-हल्ले को इसके अनोखे दृष्टान्त के रूप में लक्ष्य किया जा सकता है। एक बार तो किसी धर्मग्रन्थ की प्रति पुस्तकालय में रखने की अनुमति देने पर भी सभा को इनमें से एक पत्र की नाराजगी झेलनी पड़ी थी। इसके बाद भी सभा पर लगातार अपधर्म के आरोप लगाए गए। मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त तथ्य इनके दृष्टिकोण और सही निर्णय करने की इनकी योग्यता का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं।

एक वर्ग धूर्तों का है। यह वर्ग अन्य देशी भाषाओं बंगला, उर्दू, मराठी आदि से पुस्तकों विशेषकर उपन्यासों का अनुवाद करता है और उन्हें निर्लज्जतापूर्वक अपनी रचना घोषित करने की सीमा तक असाधारण छल करता है। ऐसे लोग मूल लेखकों के नामों को दबा देने के लिए लगातार उन उद्धारणों को लुप्त कर देते हैं, जिनके अर्थ ग्रहण में वे असमर्थ रहते हैं। इस क्रम में वे दुर्बोधा शब्दों को दूसरे शब्दों से बदल भी देते हैं। इन्हीं पत्रिकाओं में से एक में लगभग साल भर पूर्व एक बंगाली महिला का इससे सम्बन्धित लेख छपा था, हालाँकि यह लेख उनकी नजरों में सही था, पर इसने चारों ओर से निन्दा और उपहास ही झेले। यह भी उल्लेखनीय है कि वस्तुत: यह लेख बंगला रचनाओं और उनसे मिलती-जुलती हिन्दी रचनाओं की सूची-मात्र था। उपर्युक्त लेख तो केवल बंगला की ही रचनाओं तक सीमित था। ऐसे लोगों के हाथों से उर्दू की रचनाएँ भी नहीं बच पाई हैं। इसे निम्नलिखित उर्दू पुस्तकों और (उनसे उड़ाई गई सामग्री

से तैयार की गई) हिन्दी पुस्तकों द्वारा समझा जा सकता है। उर्दू रचनाएँ जिन शीर्षकों से हिन्दी में प्रस्तुत हुई, वे इस प्रकार हैं–

मेहरम वासी पूना में हलचल।
मुजाहरा रमाबाई कुँवर सिंह सेनापति।
शादी का गम वीर जयमल।
उरोज वा जवाल वीर पत्नी।
सलीम वा नूरजहाँ नूरजहाँ।

बंगला से अनुदित दो अन्य पुस्तकों पर उपर्युक्त लेख में ध्यदन नहीं दिया गया है।

बंगला हिन्दी।
हम्मीर हम्मीर।
चित्रंगदा चित्रंगदा।
(रवीन्द्र नाथ टैगोर)

एक दूसरा वर्ग है, जो अपने दिखावे में इससे भी दो कदम आगे हैं। इसमें ऐसे लोग हैं जिनकी शिक्षा असमय ही छूट गई और उसके व्यवस्थित विकास के लिए उन्होंने कभी कोई सच्चा प्रयत्न नहीं किया। उनके द्वारा इस शिक्षा का उपयोग अपने आस-पास के अल्पज्ञ पाठकों पर धाक जमाने के लिए और उन्हें भौंचक्का कर देने के उपकरण के रूप में किया जाता है, वे बड़े यत्न से वैज्ञानिक बहसों में भाग लेते हैं और इस तरह अपनी अयोग्यता ही प्रकट करते हैं। यदि ऐसे बहुमुखी ज्ञानदम्भी व्यक्ति स्वयं को श्रम और अध्ययन में लगाएँ तो ये कुछ काम के हो भी सकते हैं, लेकिन उनके वर्तमान रवैये को देखकर ऐसी आशा शायद ही की जा सकती है। एक ही व्यक्ति कभी-कभी कवि या उपन्यासकार के रूप में दिखाई देता है और कुछ ही आगे चलकर वह पुरावेत्ता या भाषाशास्त्री के रूप में दिखाई पड़ने लगता है। पुरावेत्ता या भाषाशास्त्री की हैसियत से उसे अनुचित (रूप से, श्रेष्ठता अर्जित करने का और भी अच्छा अवसर मिलता है। परिश्रमी यूरोपीय प्राच्यविदों द्वारा संगृहीत सामग्रियों का ढेर पाकर वह समय-समय पर उनमें से किसी एक जानकारी का ऐसा भाग, जो उसकी तुच्छ बुद्धि में समा सकता है, को उड़ा लेने के लिए सदा तत्पर रहता है। शेष को वह अन्य अवसरों की सेंधमारी के लिए रख छोड़ता है।

(उनके लेखन में) कभी आप स्वतन्त्र प्रत्यय पर टिप्पणी पाएँगे, तो कभी तुलनात्मक व्याकरण पर, ये सभी उसी समृद्ध स्त्रोत से उड़ाए गए हैं। यह नहीं

भूलना चाहिए कि उन्हें इसमें बड़ी सुविधा रहती है। ऐसी पुस्तकों को समझने के लिए अधिक विद्वता की आवश्यकता नहीं होती, जो यह बताती है कि वहाँ पड़ा स्तम्भ या अभिलेख फलाँ-फलाँ तथ्यों का साक्ष्य देता है। जरा देखिए कि किस मामूली कीमत पर ये विद्वानों की-सी ख्याति मोल ले लेते हैं! परिणाम यह है कि अध्ययन की उच्चतर शाखाओं मानसिक और नैतिक दर्शनशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र, भौतिकी आदि की उन्नति बाधित होती है, क्योंकि यह बिलकुल स्वाभाविक है कि ऐसी योग्यता वाले व्यक्ति प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए आसान और सुरक्षित रास्ता अपनाएँगे।

विद्वानों के निश्चयात्मक कथनों के भाव या अभिप्राय, निगमनों की सूक्ष्मता और उनके निरूपण की प्रक्रिया को समझने में असमर्थ होते हुए भी वे उनके शोध के परिणामों को आभार व्यक्त किए बिना ही उड़ा ले जाते हैं। एक-दूसरा भारी दोष यह है कि प्राचीन महत्त्व के विषय के साथ वे लापरवाही से पेश आते हैं अपनी पहुँच और समझ के भीतर का एक पत्र जुटाकर वे उतावले ढंग से उसका अनुवाद करने लगते हैं। ध्वंस की उत्कण्ठा में वे यह भूल जाते हैं कि उसकी विषय-वस्तु को समझने के लिए गहन अध्ययन की आवश्यकता होती है। प्राचीन महत्त्वा के विषयों पर समय-समय पर प्रकाशित कई तरह की पुस्तिकाएँ इस बात की उदाहरण हैं। इतिहास के देशी या विदेशी प्राचीन भंडार ने विद्वानों की एक पूरी पीढ़ी को उनके काम की सामग्री उपलब्ध कराई है। अतः बुद्धिसम्मत पद्धति यह होगी कि पहले इस भंडार को सुलभ किया जाए, ताकि अवसर आने पर दूसरों द्वारा अनुमान प्रस्तुत करने से पूर्व ही उस दिशा में बढ़त बनाई जा सके। इस रीति के अनुसार किए गए सर्वाधिक प्रशंसनीय प्रयासों में से नागरीप्रचारिणी सभा के योग्य एवं विद्वान सचिव बाबू श्यामसुन्दर दास के प्रयास सर्वश्रेष्ठ हैं।

कहने का आशय यह नहीं है कि विषय (पुरा विषय) को पूरी तरह से बचाकर अलग रखा जाए, बल्कि समर्थ व्यक्तियों द्वारा ही इसमें हाथ लगाया जाना चाहिए। ऐसे व्यक्ति, जिन्होंने इसे अपनी दृष्टि का विशेष लक्ष्य बनाने के लिए समय तथा श्रम लगाया हो, जो यूनान, रोम, फारस, मिश्र और प्राचीन महत्त्व के अन्य देशों के इतिहास पर समान रूप से अधिकार रखते हों, जिनके द्वारा अपने पूर्ववर्त्तियों की उपलब्धियों को आगे बढ़ाने की आशा की जा सकती हो और जो अपने व्यक्तिगत उद्योगों द्वारा अपने देश के इतिहास के चन्द धुँधाले पन्नों पर रोशनी डाल सकते हों वे ही इसमें हाथ लगाएँ। वे छात्र जो अपने एम. ए.

के पाठ्यक्रम में इतिहास विषय लेते हैं, यदि उस भाषा में प्रवीणता अर्जित कर लेते हैं, जो निश्चय ही उनकी अपनी भाषा है तथा छात्र जीवन के समाप्त होने पर अपने अध्ययन को तिलांजलि नहीं दे देते तो वे उपयुक्त लेखक सिद्ध हो सकते हैं। सच तो यह है कि जिन्हें नियमित शिक्षा की बहुत हद तक सुविधा मिली है, उन्हें स्वयं द्वारा अर्जित उस वृहदांश का अपना ही शिक्षक भी बनना चाहिए। तभी वे शिक्षा के प्राथमिक तत्त्वों से आगे बढ़ पाएँगे। स्कूल या कालेज में वे जो कुछ सीखते हैं, उसका महत्त्व तब तक नगण्य रहता है, जब तक वे आगे के स्वाध्याय से उन्हें विकसित नहीं कर लेते।

अब मैं लेखकों के एक और समूह पर आता हूँ। इसमें कविता, कहानी और निबन्धों के लेखकों के साथ-साथ साहित्य से जुड़े व्यक्ति् भी हैं। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि उनके विरुद्ध कहने के लिए मेरे पास ज्यादा कुछ नहीं है। इस वर्ग के सदस्य अपने क्षेत्र में अधिक निपुण हैं और इसलिए उनके कार्यों की पहचान सिद्धान्तों की दृढ़ता तथा व्यवस्थित पद्धति के कारण है। इसके उपरान्त भी मुझे कुछ टिप्पणी करनी है, जो उन्हें अधिक खुश करने वाली नहीं हो सकती है। उनकी रचनाओं में जो एक बड़ा दोष पाया जाता है, वह यह है कि उनमें शैलियों की विविधता होती है। शैलियों की अत्यधिक भिन्नता से यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि क्या वे सम्मिलित रूप से एक ही और समरूप भाषा निर्मित करती हैं? लेखकों द्वारा प्रयुक्त बहुत से संस्कृत या फारसी शब्दों के कारण ये भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं। कुछ ऐसे (लेखक) मिल सकते हैं, जो संस्कृत की सम्पूर्ण शब्दावली को अपने लिए सुलभ मानते हैं और संस्कृत के सर्वनामों तक के निर्बाध प्रयोग से नहीं हिचकते। अपने पांडित्य-प्रदर्शन के प्रयास में कभी-कभी वे इतना आगे बढ़ जाते हैं कि प्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग न करके, उनके कम प्रचलित पर्यायों का सहारा लेने लगते हैं। संस्कृत के लम्बे सामासिक पदों और अपरिचित फारसी शब्दों जो प्रभाव की सृष्टि करने के लिए कभी-कभार साथ-साथ सजा दिए जाते हैं, का प्रयोग इसी प्रवृत्ति का दूसरा चरण है। हाल ही में प्रकाशित 'अधाखिला फूल' नामक एक ही पुस्तक में आप व्यापक रूप से भिन्न तीन शैलियाँ पाकर अचम्भे में पड़ जाएँगे समर्पण में प्रयुक्त पहली शैली अत्यन्त असभ्य किस्म की है, भूमिका में प्रयुक्त दूसरी शैली व्यावहार में स्थापित शैली है और तीसरी पुस्तक की खुद अपनी शैली है, जो किसी जटिल विचार के वहन में शायद ही सक्षम हो। दूसरी ओर बनारस के पेशेवर कहानी-लेखक हैं। इनमें से अधिकांश निर्लज्ज अनुवादकों से सम्बन्धित

पूर्वप्रचलित टिप्पणियाँ लागू होती हैं। जनता की रुचि भ्रष्ट करने के साथ-साथ ये आर्थिक लाभ के लिए अपनी भाषा की शुद्धता की बलि चढ़ाने के लिए भी सदैव तत्पर रहते हैं। मुझे आशा है कि ये लोग लम्बे समय तक बाधक तत्त्व बने नहीं रह पाएँगे।

विचित्र तो यह है कि कविता भाषा के दो भिन्न रूपों खड़ी बोली और ब्रजभाषा में दिखाई देती है। नागरीप्रचारिणी सभा की एक बैठक में यह प्रश्न उठाया गया कि प्रौढ़ रचनाओं के लिए इन दोनों रूपों में से किसे ग्रहण किया जाए। थोड़े विचार-विमर्श के उपरान्त अनिच्छापूर्वक यह निर्णय लिया गया कि कविता इन दोनों रूपों में लिखी जा सकती है। इन परिस्थितियों में अपनाए जाने योग्य यह सबसे कम निराशाजनक योजना थी। साहित्य की इस विधा के कुंठित विकास का कारण बहुत हद तक इस कार्य के प्रति रुचि का अभाव होना भी है। यह दु:खद सत्य है कि इस पर ध्यान रखने वाले ढेर सारे विद्वानों और कुशल व्यक्तियों के रहने के बाद भी उनके द्वारा अब तक कोई ठोस रचना प्रस्तुत नहीं की गई है। साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक और दार्शनिक निबन्धों के समर्थ लेखकों की आवश्यकता भी बनी हुई है।

अन्तत:, मैं अपने शिक्षित भाइयों का ध्यान उनकी भाषा की शोचनीय दशा की ओर आकर्षित करता हूँ। मुझे उस समय की व्याकुलता से प्रतीक्षा है, जब वे मंच पर उपस्थित होंगे और दुनिया को यह दिखा देंगे कि उनके पास भी, उनकी अपनी, एक ऐसी भाषा है, जो विचारों की हर प्रणाली के सम्प्रेक्षण के लिए पूर्णत: उपयुक्त है। प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए अपनी देशी भाषा के साहित्य को समृद्ध करने से अधिक विश्वसनीय कोई अन्य साधान नहीं है। श्री रमेशचन्द्र दत्ता जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति ने अपनी देशी भाषा के साहित्यिक कार्य में ढेर सारा मूल्यवान समय लगाया है। हमें मिल्टन की इस उक्ति के मर्म पहुँचने की जरूरत है "एथेंस, रोम या आधुनिक इटली तथा प्राचीन यहूदियों की महानतम और श्रेष्ठतम प्रतिभाओं ने अपने देश के लिए जो किया, उसे अपनी शक्ति-भर मैं भी, एक ईसाई होने के अलावा, अपने देश के लिए कर सकता हूँ। कभी विदेशों में ख्याति अर्जित करने की परवाह किए बिना, हालाँकि शायद मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैं अपने संसार के रूप में इन ब्रिटिश द्वीपों के साथ सन्तुष्ट हूँ।"

क्या हमें अपने पाठकों को यह स्मरण कराने की आवश्यकता है कि आगे चलकर उसका संसार आबाद भूमंडल के चौथाई भाग पर विस्तृत हो गया और उसकी ख्याति भारत तथा बर्मा जैसे दूरस्थ देशों तक पहुँची? यदि मिल्टन अपने

'ब्रिटिश द्वीप' से सन्तुष्ट था तो मुझे कोई कारण नहीं दिखता कि फिलहाल हमें संयुक्त प्रान्त, पंजाब, मध्य प्रान्त, बिहार और राजपूताना जैसे कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र से सन्तुष्ट क्यों नहीं होना चाहिए।

('द इंडियन पीपुल' नामक पत्र में प्रकाशित आचार्य शुक्ल के इस लेख पर व्यापक प्रतिक्रिया हुई थी। इसके पक्ष-विपक्ष में अनेक लोगों ने लिखा था। ऐसे ही लोगों में एक थे बी. डी. मलावी। इन्होंने 'द इंडियन पीपुल' में ही 'हिन्दी साहित्य' नामक पत्र लिखकर अपना विरोध दर्ज कराया था। बी. डी. मलावी का पत्र आगे अविकल दिया जा रहा है। पुनः आचार्य शुक्ल ने मलावी के पत्र का प्रत्युत्तर 'हिन्दी साहित्य' पर टिप्पणी' शीर्षक लेख से दिया था। यह लेख भी आगे अविकल दिया गया है सम्पादक।

हिन्दी साहित्य

महाशय

आपके समाचार-पत्र में पिछली 6 जुलाई को तथा 'एडवोकेट' में 30 जुलाई को प्रकाशित देशी भाषा हिन्दी की दशा का मिथ्यानिरूपण करने वाले पत्र ने हिन्दी भाषा के बहुत-से लेखकों और प्रेमियों को पीड़ा पहुँचाई है। ऐसा अशोभनीय और विवेकहीन पत्र श्री शुक्ल जैसे शालीन सज्जन की कलम से आएगा, यह मेरे लिए महान आश्चर्य और दुःख का विषय है। वह भी विशेषकर तब, जब मुझे बताया गया कि ये सज्जन स्वयं को हिन्दी का हितैषी मानते हैं।

किसी को भी इस सच्चाई से इनकार नहीं है कि स्वर्गीय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल से ही हिन्दी साहित्य निरन्तर उन्नति करता रहा है और वर्तमान परिस्थितियाँ इसके उज्ज्वल भविष्य की पुष्टि करती हैं, पर मुझे यह कहते हुए काफी दुःख है कि 'कारण धीरे होत है।.....' वाली कहावत को भूलकर श्री शुक्ल ने अपना धैर्य खो दिया। तर्क की विचित्र पद्धति से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी शोचनीय अवस्था में पहुँचा दी गई है और इसके कारण हैं हिन्दी साप्ताहिकों के सम्पादक स्नातक नहीं हैं, बंगला एवं उर्दू उपन्यासों के कुछ अनुवादकों ने उनके मूल लेखकों का नामोल्लेख जान-बूझकर नहीं किया, हिन्दी के कुछ सर्वमान्य श्रेष्ठ विद्वानों ने भाषा शास्त्र, तुलनात्मक व्याकरण और पुरातत्त्व पर ऐसी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करवाई जो शिक्षित वर्ग के लिए तो बोधगम्य थी, किन्तु जनता के एक बड़े समूह के लिए अबोधगम्य थीं, पत्रिकाओं के कुछ

सम्पादकों को फारसी शब्दों के आगे-पीछे संस्कृत शब्द सजाने की आदत पड़ी है और अन्ततः 'अधखिला फूल' के प्रसिद्ध लेखक ने भूमिका में कठिन हिन्दी और पुस्तक के मुख्य भाग में सरल हिन्दी लिखने की धृष्टता की।

श्री शुक्ल के कथनानुसार, मैं उनके निश्चयात्मक कथनों के अभिप्राय, निगमनों की सूक्ष्मता और उनके निरूपण की प्रक्रिया को समझने में असमर्थ हूँ। लेकिन उनके तर्कों की धार को न समझ पाते हुए भी मैं उन दोषों पर संक्षिप्त चर्चा करने का प्रयास करूँगा, जिन्होंने मेरे विद्वान मित्र की दृष्टि में हिन्दी की दशा को शोचनीय और शायद हेय भी बना दिया है।

अपने पत्र के तीसरे अनुच्छेद में श्री शुक्ल ने हिन्दी साप्ताहिकों के सम्पादकों को अपने कर्त्तव्य न के निर्वाह में अक्षम घोषित किया है, क्योंकि वे अल्पशिक्षित हैं और उनमें से कइयों के पास श्री दत्ता की 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया' के हिन्दी अनुवाद को समझ पाने की बुद्धि नहीं थी। यदि शिक्षा शब्द अंग्रेजी की शिक्षा तक ही सीमित नहीं है तो मेरी समझ से श्री शुक्ल ने सभी सम्पादकों के चरित्र और उपलब्धियों पर लांछन लगाकर सही नहीं किया है। मेरे मित्र यह याद रखें कि ये सम्पादक हिन्दू समुदाय के रूढ़िवादी हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस रूप में उन्होंने अवश्य यह सोचा होगा कि ऐसी क्रान्तिकारी पुस्तक के प्रकाशन का विरोध करना उनका कर्त्तव्ये है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार की बहसें साहित्य के उद्देश्य के लिए क्षतिकारक होने की बजाय अन्ततः प्रायः लाभप्रद सिद्ध होती हैं। इसलिए सदा इनका विरोध ही नहीं किया जाना चाहिए।

अपने पत्र के चौथे, पाँचवें और छठे अनुच्छेद में पंडित ने एक बंगाली महिला का हवाला दिया है, जिन्होंने किसी उपन्यासकार के भ्रष्ट आचरण को उद्घाटित करने का वीरांगना-सम स्तुत्य साहस दिखाया था और पंडित के ही शब्दों में चारों ओर से निन्दा और उपहास झेला' था। मुझे ज्ञात हुआ है कि उनका लेख उतना आकर्षक सिद्ध नहीं हुआ और उसने मात्र एक हिन्दी साप्ताहिक का ध्यान आकृष्ट किया था। इसके उपरान्त भी महिला के साथ मेरी पूरी सहानुभूति है और उनके प्रति अनुदार आचरण के जिम्मेदार सम्पादकों की मैं घोर निन्दा करता हूँ। यद्यपि मैं उन पथभ्रष्ट सम्पादकों के साथ नहीं हूँ, फिर भी मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि बंगला और उर्दू उपन्यासों के बिना ये आभार व्यक्त किए गए हिन्दी अनुवाद हिन्दी साहित्य के हितों को कैसे पहुँचाएँगे। क्या इन्होंने पठनीय हिन्दी पुस्तकों के भंडार में योग नहीं किया है और चारों ओर का उपहास

झेलने की बजाय उपन्यास के पाठकों द्वारा, क्या ये सराहे नहीं गए हैं? इस परिस्थिति में मेरा तो यह मानना है कि इन अनुवादों ने हिन्दी की गति को बाधित करने की जगह इसे एक सराहनीय सीमा तक आगे बढ़ाया है।

अपने पत्र के सातवें, आठवें और नौवें अनुच्छेद में पंडित ने भाषा शास्त्र, पुरातत्त्व आदि पर पुस्तिकाएँ प्रकाशित करने का साहस करने वाले व्यक्तियों पर अनुचित प्रहार किया है। मेरे विद्वान मित्र बाबू श्यामसुन्दरदास जैसे लब्धाप्रतिष्ठ स्नातकों को ही इन पवित्र विषयों पर विचार करने में समर्थ मानते हैं। यदि कोई अन्य स्नातक, भले ही वह कितना ही अध्ययनशील और विद्वान क्यों न हो, इन विषयों में हाथ डालने को होगा तो उसे एक अपात्र अछूत की तरह झिड़क दिया जाएगा। उसका कार्य भले ही प्रशंसनीय हो, परन्तु अपवित्र घोषित कर दिया जाएगा, लेकिन श्री शुक्ल एकमात्र इस आधार पर ही 'ऐसी वैज्ञानिक बहसों' से घृणा नहीं करते। पहले तो वे उनके प्रकाशन की निन्दा करते हैं क्योंकि वे अल्पज्ञ पाठकों को भौचक्क कर देने के लिए थे, दूसरे, वे योरोपीय प्राच्यविदों की पुस्तकों के अनुवाद-मात्र थे, तीसरे, उनका लेखन प्रतिष्ठा अर्जित करने का आसान तरीका होने के कारण सामान्य बुद्धि के लोगों को उच्चतर अध्ययन जारी न रखने का परामर्श देता है और चौथे कि इन पुस्तिकाओं की विषयवस्तु को समझने के लिए इसके पाठकों को व्यापक अध्ययन की आवश्यकता होती है।

मैं इन आपत्तियों का यह जवाब देना चाहता हूँ कि इनमें से किसी भी पुस्तिका को पढ़कर यदि स्वयं पंडित कभी भौचक्क रह गए हों तो इन सबका तुरन्त बहिष्कार कर दिया जाए, लेकिन यदि वे प्रारम्भिक ग्रन्थों का अध्यायन करने के कष्ट से गुजरे बिना ही इन पुस्तिकाओं की विषय-वस्तु और लाभ को समझने में सक्षम रहे हों तो भले ही ये अनुवाद-मात्र हों, परन्तु मैं आशा करता हूँ कि वे (शुक्ल) हिन्दी की प्रगति में पूरक होने के इनके महत्त्व को स्वीकार करेंगे और इनकी प्रतिकूल आलोचना से बाज आएँगे। तीसरी आपत्ति ऐसी बेतुकी है कि अपना खंडन आप ही कर देती हैं। इस परिस्थिति में कोई भी सन्तुलित व्यक्ति क्या यह कह सकता है कि ऐसी पुस्तिकाओं का प्रकाशन हिन्दी की उन्नति के लिए किसी भी प्रकार से हानिकारक है?

दसवें अनुच्छेद में पंडित कविता, कहानी, निबन्ध तथा उपन्यास लिखने वाले पंडितों को प्रवचन देते हैं। वैसे उनकी कटु निन्दा मुख्यतः शैली की विविधता पर केन्द्रित थी, चूँकि शैली की समस्या अभी तक वर्तमान है, इसलिए श्री शुक्ल का आक्षेप अप्रौढ़ है। 'अधोखिला फूल' एक उत्कृष्ट उपदेशात्मक

उपन्यास है और यह ऐसी शैली का नमूना प्रस्तुत करता है, जो भारत के एक बड़े जनसमूह के लिए उपयुक्त है, लेकिन श्री शुक्ल के विचार से इस तरह की शैली जटिल विचारों के वहन में असमर्थ है। मैं उन्हें चुनौती देता हूँ कि वे अपनी टिप्पणी की सत्यता को उदाहरणों द्वारा सिद्ध करें। पंडित ने समर्पण की शैली को असभ्य कहना पसन्द किया है, क्योंकि वह अत्यधिक संस्कृतिनिष्ठ थी। यदि संस्कृतभाषी व्यक्ति असभ्य थे तब तो इस शैली को उचित ही असभ्य कहा जाना चाहिए, लेकिन यदि वे एक सभ्य जाति के सदस्य थे तो श्री शुक्ल की भ्रामक और वितंडावादी आलोचना की निन्दा होनी चाहिए।

मलावी

'हिन्दी साहित्य' पर टिप्पणी

महोदय,

इस महीने की 10 तारीख को आपके समाचार-पत्र में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य' नामक पत्र सचमुच अप्रत्याशित था। इस पर विश्वास नहीं होता कि श्री बी. डी. मलावी या उस्ताद (?) जैसे सुस्त व्यक्ति 'विद्वानों' (जैसा कि वे उन्हें कहना पसन्द करते हैं) के बिना किसी तर्क और समझदारी से निर्देशित आचरण को जायज ठहराने के किसी स्वत:र्स्फूहत प्रयास की उनकी जरूरत पूरी कर देंगे।

विद्वान लेखक आरम्भ में अपना विश्वास व्यक्त करते हैं कि अपनी तमाम कमियों के उपरान्त भी हिन्दी सफलता के पथ पर अग्रसर है और बाबू हरिश्चन्द्र के जमाने से ही उन्नति करती आ रही है। क्या मेरे मित्र उनके काल के बाद प्रकाशित ऐसी आधी दर्जन पुस्तकों का भी नाम गिनाएँगे जिन्हें गम्भीर और मौलिक चिन्तन का परिणाम कहा जा सके? यदि वे यह मानते हैं कि किसी एक देश के संस्कार, रीति-रिवाज और प्रवृत्तियाँ हर जगह लागू नहीं होतीं और एक विशेष सामाजिक चरित्र की प्रत्येक विशेषता दूसरे समाज की तस्वीर में यथातथ्यता के साथ प्रदर्शित नहीं होती हैं तो वे यह भी मानने को तैयार होंगे कि अनुवाद हमारी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति नहीं करते हैं।

दूसरे अनुच्छेद में उन्होंने जिन दलीलों के लिए मुझे उत्तरदायी ठहराया है, उनका मैं खंडन करता हूँ। वे पूर्णत: बेतुके हैं और मेरे द्वारा प्रयुक्त नहीं किए गए हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि काबिल उस्ताद ने उन तथ्यों की अनदेखी कर दी है, जिन्होंने मेरे दावे का आधार तैयार किया है। उन्होंने आरम्भिक टिप्पणियों को मेरे मुख्य तर्क के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

मेरे मित्र सम्पादकों का बचाव करने की चेष्टा करते हैं और उनमें महान योग्यता की खोज का स्वांग रचते हैं। सम्बन्धित अनुच्छेद को असावधानीपूर्वक पढ़ने के कारण ही वे यह अनुमान लगाते हैं कि सम्पादकों द्वारा श्री दत्ता के इतिहास के अनुवाद की उपेक्षा के चलते मैंने उन लोगों के प्रति नकारात्मक विचार बना लिए। मैंने तो अपने पत्र में केवल इसके अनुवादित होने के प्रति उनकी अनिच्छा की निन्दा की थी, न कि उस दृष्टिकोण की, जिसके आधार पर वे उसमें मौजूद विचारों का मूल्यांकन करते। अब पुस्तक उनके सामने है और वे इसके प्रति अपनी पूर्वधारणाओं को और भी दृढ़ करने के लिए तथा इसके अवगुणों को उजागर करने के लिए पूर्णत: स्वतन्त्र हैं। मुझे इस सूचना के लिए कृतज्ञ होना ही पड़ेगा कि हिन्दी साप्ताहिक मात्र रूढ़िवादी समुदाय के प्रतिनिधि हैं और जनता के प्रति स्वतन्त्र रूप से उनका कोई कर्त्तव्य् नहीं है।

यहाँ अन्तर्निहित आशय यह है कि उनकी आवाज केवल रूढ़िवादियों की प्रतिध्वनि के रूप में समझी जानी चाहिए। इस पर कोई चाहे तो कान दे या न दे। यदि इसे सच मान भी लिया जाए जो उन्हें इस धारणा के कारणों का पता लगाने का एक अवसर प्रदान कर रहे हैं कि पुस्तक निश्चित रूप से भ्रमित करने वाली है, उनकी राह में रोड़े अटकाना भी क्या उनके कर्त्तव्य का अंग है? दूसरे शब्दों में, क्या यह बहाना भी उन्हें तर्क या सोच-विचार की परिधि से बाहर कर देगा?

काश, यह बचकानी भ्रान्त दलील किसी पाठशाला की कक्षा तक सीमित रही होती!

उनके सम्पादकों की योग्यता के विषय में मैं इससे अधिक कुछ और नहीं कर सकता कि उनके समक्ष 'बंगबासी' एक प्रमुख हिन्दी साप्ताहिक, जो छोटी कक्षा के बच्चों के लिए हँसी-मजाक के विषय प्रस्तुत करता है, में प्रकाशित अपने पत्र का अनुवाद रख दूँ (या देखें 'मोहिनी', जिसमें अनुवाद की कमियों को इंगित किया गया है)। यह 'भारतमित्र' की इन निराधार गर्वोक्तियों के जवाब के रूप में भी काम करेगा कि हिन्दी सम्पादक ऐसी किसी चीज में कभी हाथ नहीं लगाते, जिसमें वे पूर्णत: कुशल न हों और यह कि इन 'पत्रों के संचालन में कम-से-कम आधा दर्जन स्नातकों का हाथ है।'

चौथे अनुच्छेद में मेरे विद्वान मित्र रचनाकार का आभार व्यक्त किए बिना और लेखकों की अनुमति प्राप्त किए बिना ही पुस्तकों का अनुवाद कर देने के आचरण को प्रोत्साहित करते जान पड़ते हैं। आशा है कि विद्वान मित्र मुझे यह

कहते हुए इन अनुवादों के महत्त्व को कम करके आँकने की अनुमति देंगे कि शिक्षितों की दृष्टि में इस तरह का व्यवसाय हिन्दी लेखकों को किसी न किसी रूप में निकृष्ट बना देगा और इस क्षेत्र में नए लेखकों को आकर्षित नहीं कर पाएगा। विचित्र बात यह है कि दो महीने तक मेरे पत्रों का अध्ययन करने के बाद भी मेरे आलोचक मेरे मन्तव्य को समझ न सके। मेरे पत्र में कोई ऐसा कथन नहीं है, जो 'अध्ययनशील और विद्वान' अन्तरस्नातकों को पुरावशेषों, भाषा शास्त्र आदि के अध्यनयन में जुटने से रोकता है। यह मेरी समझ से बाहर है कि व्याख्या की किस पद्धति द्वारा मेरे मित्र ने मेरे मन्तव्यों को विवादित बना दिया है। एक ऐसे अनुच्छेद का अनुवाद करना, जिसमें यह सामान्य-सा तथ्य हो कि एक कमरा 15 फुट लम्बा और 10 फुट चौड़ा है, मेरे मित्र की राय में विद्वता की निशानी है। यदि यह ठीक है तो हर स्कूली छात्र विद्वान है, जिसको शिक्षक द्वारा सम्मान दिया जाना चाहिए। मेरे मित्र को यह जान लेना चाहिए कि मौलिक लेखकों को मिलने वाले श्रेय में तथ्यों के अनुवादकों का जरा भी हिस्सा नहीं होता। मात्र दार्शनिक और मीमांसात्मक लेखन के अनुवादक ही, अपनी मानसिक शक्ति के प्रयोग के उचित प्रतिदानस्वरूप, मौलिक चिन्तकों की-सी श्रेष्ठता के थोड़े-बहुत हकदार हो सकते हैं।

अब मैं उनके अन्तिम अनुच्छेद पर आता हूँ। इसमें पहली बार मैं ऐसा दावा पाता हूँ कि हिन्दी की शैली की समस्या अभी तक बनी हुई है। इसका यह अर्थ हुआ कि जिस शैली में समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ और अधिकांश पुस्तकें लिखी गई हैं वह किसी भी दूसरी शैली से बदली जा सकती हैं। इसमें एक तरह से यह भी अप्रत्यक्षत: निहित है कि या तो भारतेन्दु जैसा कोई व्यक्ति कभी हुआ ही नहीं या हिन्दी उस महान व्यक्ति की किसी भी प्रकार से ऋणी नहीं है। हिन्दी गद्य शैली के जन्मदाता के प्रति विद्रोह का मुझे कोई आधार नहीं दिखता। दूसरी जिस बात ने मेरे विद्वान मित्र को अत्यधिक उत्तेजित कर दिया वह है शैलियों की विविधता से सम्बन्धित मेरे कथन के उदाहरण के रूप में मेरे द्वारा 'अधोखिला फूल' की चर्चा। वे मुझे यह प्रदर्शित करके सिद्ध करने की चुनौती देते हैं कि उस पुस्तक की भाषा में कोई जटिल विचार अभिव्यक्त नहीं हो सकते। इसके जवाब में, मैं भी उन्हें इसी तरह की शैली में उनके अपने पत्र का अनुवाद प्रस्तुत करने और मुझे मेरी भूल स्वीकार करा देने की चुनौती देता हूँ।

समर्पण की शैली के विषय में मेरा यह कहना है कि इस तरह की शैली को असभ्य न कहना नितान्त असभ्यता है। मेरे मित्र को यह ज्ञात हो कि संस्कृत

भाषियों की स्मृतियों को पलटने के मेरे पास उनसे कहीं अधिक कारण हैं, पर मैं इस मान्यता को स्वीकार नहीं करूँगा कि लगभग पूरा वाक्य संस्कृत में कह लेने के बाद वे अन्त में तमिल या तेलुगू क्रिया का प्रयोग करें। किसी लैटिन वाक्य में अंग्रेजी या फ्रेंच का विधोय घुसेड़ना कितना हास्यास्पद होगा।

अपनी भाषा पर विचार

भाषा का प्रयोग मन में आई हुई भावनाओं को प्रदर्शित करने के लिए होता है।

इससे यह समझना कि संसार की किसी भाषा द्वारा मनुष्य के हृदय के भीतर की सब भावनाएँ ज्यों की त्यों बाहरी सृष्टि में लाई जा सकती हैं, सो ठीक नहीं, किन्तु किसी भाषा की श्रेष्ठता निश्चित करने के लिए यह विचार करना आवश्यक होता है कि वह अपने इस कार्य में कहाँ तक समर्थ है अर्थात् हृदयस्थित भावनाओं का कितना अंश वह प्रतिबिम्बित करके झलका सकती है। अभी तक मानव कल्पना में ऐसे-ऐसे रहस्य छिपे पड़े हैं, जिनको प्रकाशित करने के लिए कोई भाषा ही नहीं बनी है। स्मरण रखिए कि यह बात मैंने भावनाओं के विषय में कही है, विचारों के विषय में नहीं।

भाषा की व्यंजक शक्ति दो वस्तुओं पर अवलम्बित है 'शब्द विस्तार' और 'शब्द योजना'।

शब्द विस्तार

जिस भाषा में शब्दों की कमी है उसका प्रभाव मनुष्य के कार्य कलाप पर बहुत थोड़ा है। उस भाषा को बोलने वाला बहुत सी बातों को जानते हुए भी अनजान बना रहता है। यद्यपि शब्दों की बहुतायत से भाषा की पुष्टि होती है तथापि कई बातें ऐसी हैं, जो उसकी सीमा स्थिर करती हैं। जिस जलवायु ने हमारे स्वभाव और रूपरंग को रचा उसी ने हमारे शब्दों को भी सृजा। ये शब्द हमारे जीवन के अंश समान हैं, इनमें से हर एक हमारी किसी न किसी मानसिक अवस्था का चित्र है। इनकी ध्वनि में भी हमारे लिए एक आकर्षण विशेष है। निज भाषा के किसी शब्द से जिस मात्र का भाव उद्‌भूत होता है उस मात्र का समान अर्थवाची किसी विदेशीय शब्द से नहीं, क्योंकि पहिले तो विजातीय शब्दों की ध्वंनि ही हमारी स्वाभाविक रुचि से मेल नहीं खाती, दूसरे वे विस्तार में हमारे मानसिक संस्कार के नाप के नहीं होते। आजकल हिन्दी की अवस्था कुछ

विलक्षण हो रही है। उचित पथ के सिवाय उसके लिए तीन और मार्ग खोले गए हैं, एक, जिसमें बिना किसी विचार के संस्कृत के शब्द और समास बिछाए जाते हैं, दूसरा, जिसको उर्दू कहना चाहिए, इनके अतिरिक्त एक 'तृतीय पथ' भी खुल रहा है, जिसमें अप्रचलित अरबी, फारसी और संस्कृत शब्द एक पंक्ति में बैठाए जाते हैं। मैं यह नहीं चाहता कि अरबी और फारसी आदि विदेशीय भाषाओं के शब्द जो हमारी बोली में आ गए हैं, जिन्हें बिना बोले हम नहीं रह सकते, वे निकाल दिए जायँ, किन्तु क्लिष्टऔर अप्रचलित विदेशीय शब्दों को व्यर्थ लाकर भाषा के सिर ऋण मढ़ना ठीक नहीं। सहायता के लिए किसी अन्य विदेशीय भाषा के शब्दों को लाना हानिकारक नहीं, किन्तु उनकी संख्या इतनी न हो कि स्थानीय भाषा के आधीन रहकर काम करने के स्थान पर,वे उसी को अधिकारच्युत करने का यत्न करने लगें। अब यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि अरबी व फारसी के कौन शब्द हिन्दी में लिए जायँ और कौन न लिए जायँ। मेरी समझ में तो हिन्दी में वे ही अरबी फारसी शब्द लिए जा सकते हैं जिनको वे लोग भी बोलते हैं, जिन्होंने उर्दू कभी नहीं पढ़ी है, जैसे– जरूर, मुकदमा, मजदूर, जो शब्द लोग मौलवी साहब से सीखकर बोलते हैं, उनका दूर होना ही हिन्दी के लिए अच्छा है।

राजा शिवप्रसाद मुसलमानी हिन्दी का स्वप्न ही देखते रहे कि भारतेन्दु ने स्वच्छ आर्य हिन्दी की शुभ्र छटा दिखाकर लोगों को चमत्कृत कर दिया। लोग चकपका उठे, यह बात उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ी कि यदि हमारे प्राचीन धर्म, गौरव और विचारों की रक्षा होगी तो इसी भाषा के द्वारा। स्वार्थी लोग समय-समय पर चक्र चलाते ही रहे, किन्तु भारतेन्दु की स्वच्छ चंद्रिका में जो एक बार उनके गौरव की झलक लोगों ने देख पाई वह उनके चित्त से न हटी। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा ही जाति के धार्मिक और जातीय विचारों की रक्षिणी है, वही उसके पूर्व गौरव का स्मरण कराती हुई, हीन से हीन दशा में भी, उसमें आत्म भिमान का स्रोत बहाती है। किसी जाति को अशक्त करने का सबसे सहज उपाय उसकी भाषा को नष्ट करना है। हमारी नस-नस से स्वदेश और स्वजाति का अभिमान कैसे निकल गया, हमारे हृदय से आर्य भावनाओं का कैसे लोप हो गया? क्या यह भी बतलाना पड़ेगा? इधर सैकड़ों वर्ष से हम अपने पूर्व संचित संस्कारों को जलांजलि दे रहे थे। भारतवर्ष की भुवनमोहिनी छटा से मुँह मोड़कर शीराज और इस्फहान की ओर लौ लगाए थे: गंगा जमुना के शीतल शान्तिदायक तट को छोड़कर इफरात और दजला के रेतीले मैदानों के लिए लालायित हो रहे

थे, हाथ में अलिफलैला की किताब पड़ी रहती थी, एक झपकी ले लेते थे तो अलीबाबा के अस्तबल में जा पहुँचते थे। हातिम की सखावत के सामने कर्ण का दान और युधिष्ठिर का सत्यवाद भूल गया था, शीरीं फरहाद के इश्क ने नलदमयन्ती के सात्विक और स्वाभाविक प्रेम की चर्चा बन्द कर दी थी। मालती, मल्लिका केतकी आदि फूलों का नाम लेते या तो हमारी जीभ लटपटाती थी या हमको शर्म मालूम होती थी। वसन्त ऋतु का आगमन भारत में होता था, आमों की मंजरी से चारों दिशाएँ आच्छादित होती थीं, पर हमको कुछ खबर नहीं रहती थी, हम उन दिनों गुले लाला और गुले नरगिस के फिराक में रहते थेय मधुकर गूँजते और कोइलें कूकती थीं, पर हम तनिक भी न चौंकते थे, अड्डे पर कान लगाए हम बुलबुल का नाला सुनते थे।

यहाँ पर एक बात हम स्पष्ट रूप से कह देना चाहते हैं। हम हिन्दू हैं, हिन्दुस्तान हमारा देश है, हिन्दी हमारी भाषा है। इस भाषा में अवश्यमेव हिन्दुओं के आचार-विचार का आभास रहेगा, इसमें अवश्य उनके प्राचीन गौरव की गंध रहेगी, कुढ़ने वाले भले ही कुढ़ें। वह सहायता के लिए भरसक संस्कृत का ही मुँह देखेगी। मुट्ठी भर मुसलमानों के लिए हम कदापि अपनी भाषा को लांछित न करेंगे। यदि मुसलमान लोग उसे नहीं समझना चाहते तो न समझें, हमारी कोई हानि नहीं। मुसलमान लोग तो तनिक भी शीन काफ के बाहर न हों और हम भौंदू बने उनके पास खसकते जायँ ऐसी कौन सी आफत आई है। यह भी कोई राजनीतिक युक्ति नहीं है कि एक तरफ तो मुसलमान लोग ऐंठे जा रहे हैं, दूसरी तरफ हमारे माननीय लोग अपनी मधुर वक्तृताओं में उन्हें लपेटते जा रहे हैं। यदि कहिए कि इस प्रान्त के अधिकांश शिक्षित लोगों की एक भाषा बन गई है, उसी को चटपट ग्रहण कर लेने से समय की बचत होगी तो भी ठीक नहीं, क्योंकि वह भाषा एक अस्वाभाविक शिक्षा से बनी है और उसी शिक्षा के साथ हवा हो सकती है। यदि आज से हमारे बच्चों के हाथ में खालकबारी के स्थान पर अमरकोशदे दिया जाय और अंग्रेजी के साथ उन्हें संस्कृत या हिन्दी का अभ्यास कराया जाय तो यही हिन्दी बीस वर्ष के भीतर ही गली-गली सुनाई देने लगे। क्या बंगला देश में मुसलमान नहीं है? क्या संस्कृत मिश्रित बंगला भाषा के लिए वहाँ राह नहीं निकल गई? क्या छोटे-छोटे बंगालियों के बालक उन संस्कृत शब्दों को मधुरता से उच्चारण करते नहीं पाए जाते, जिनको सुनकर हमारे मुंशी लोग इतना चौंकते हैं? जबकि देश में राष्ट्रीयता की इतनी चर्चा फैल रही है, जब नागरी को राष्ट्रलिपि और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग बंगाल और

महाराष्ट्र प्रदेशों में भी हो रहा है, उस समय हिन्दी को इन प्रदेशों की भाषाओं से दूर हटना ठीक नहीं, वरन् उसको अपने उस अंश की कुछ वृद्धि करनी चाहिए, जो उन सब भाषाओं में सम्मिलित है। यह सम्मिलित अंश संस्कृत शब्दों का समूह है।

जब एक बार राजा शिवप्रसाद की मुसलमानी हिन्दी को दबाकर भारतेन्दु की हिन्दी अग्रसर हुई और आज तक बराबर निर्विवाद रूप से स्वीकृत होती आई तब इस फारसीदार हिन्दी की चर्चा फिर कैसे आरम्भ हो गई इसका विचार करना है। इसका दूसरा उत्थान फिर काशी के तिलस्मी उपन्यासों में देख पड़ा, जिनकी रचना उर्दूदाँ 'क ख' पहिचानने वालों को भी फँसाने में समर्थ हुई। एक को लाभ उठाते देख दूसरे ने भी उसी मार्ग पर पैर रखा वही ऐय्यारी, वही तिलस्म, वही भाषा, वही सब कुछ। कई लोग साहसपूर्वक आगे बढ़े और उर्दू नावेलों को सामने रख और उन्हें नागरी अक्षरों में उतारकर नाम और दाम कमाने लगे, किन्तु तब तक यह हवा और श्रेणी के लेखकों को नहीं लगी थी। सहसा प्रयाग की सरस्वती के मालिकों का ध्यान सरलता की ओर जा पड़ा, ग्राहक बढ़ाने के हेतु प्रत्रिका को सरल और कौतूहल प्रदायिनी बनाने की चेष्टा होने लगी इस सरलता का जाज्वल्यमान उदाहरण पहिले पहल 1904 ई. में 'नास्तिक आस्तिक संवाद' प्रकाशित हुआ। इसमें मजाज, तकसीर, दकीका, महदूद, ऐब-जोई, हकीर और कोताह बुद्धिक्वआदि शब्दों द्वारा भाषा एकबारगी सरल कर दी गई। उसी में ये वाक्य देख पड़े "जिस समय ईश्वर, जिसकी हस्ती की बाबत आपको शंका है, आपकी ज्ञान लब दुर्विदग्धाता को खो देगा..."

कहिए यह भाषा को सरल करना है या उसको और भी कठिन बनाना है। ऐसी भाषा लिखने के पहले 'करीमुल्लुगात' का एक नागरी संस्करण छापना चाहिए, जो लोग केवल हिन्दी वा संस्कृत ही जानते हैं, वे इस 'हस्ती' को 'हाथी' समझें या और कुछ।

शब्द योजना

यहाँ तक तो शब्द विस्तार की बात हुई। आगे भाषा के इससे भी गुरुतर और प्रयोजनीय अंश अर्थात् शब्द योजना पर ध्या न देना है। भाषा उत्पन्न करने के लिए असंख्य शब्दों का होना ही बस नहीं है, क्योंकि पृथक्-पृथक् वे कुछ भी नहीं कर सकते। वे कल्पना में इन्द्रिय कम्प द्वारा खचित एक एक स्वरूप के लिए भिन्न-भिन्न संकेत मात्र हैं। कोई ऐसा पूरा विचार उत्पन्न करने के लिए जो मनुष्य

की प्रकृति पर कोई प्रभाव डाले अर्थात् उसकी भौतिक व मानसिक स्थिति में कुछ फेरफार उत्पन्न करे, हमें शब्दों को एक साथ संयोजित करना पड़ता है।

क्व यहाँ ध्वनि से मेरा अभिप्राय 'यत्र वाच्याविशयि व्यंग्य स ध्वनिः' नहीं वरन् नाद से है।

जैसे कोई मनुष्य सड़क पर चला जाता है, यदि हम पीछे से उसको सुनाकर कहें कि 'मकान', तो वह मनुष्य कुछ भी ध्यान न देगा और चला जायेगा, किन्तु यदि पुकारें कि 'मकान गिरता है' तो वह अवश्य चौंक पड़ेगा और भागने का उद्योग करेगा। शब्द योजना का प्रभाव देखिए! प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह इस कार्य में बड़ी सावधानी रखे। बहुत से शब्दों को जोड़ने से ही भाषा उत्पन्न नहीं होगी, उसमें उपयुक्त क्रम, चुनाव और परिमाण का विचार रखना होता है। निश्चय जानिए कि शब्दों के मेल में बड़ी शक्ति है। एक भावुक मनुष्य थोड़े से शब्दों को लेकर भी वह चमत्कार दिखला सकता है, जो एक स्तब्ध चित्त का मनुष्य चार भाषाओं का कोश लेकर भी नहीं सूझा सकता। कुछ दिन पहिले हमारी हिन्दी की स्थिति ऐसी हो गई थी कि उसका विचार क्षेत्र में अग्रसर होना कठिन देख पड़ता था। बने बनाए समास, जिनका व्यावहार हजारों वर्ष पहिले हो चुका था, लाकर भाषा अलंकृत की जाती थी। किसी परिचित वस्तु के लिए जो जो विशेषण बहुत काल से स्थिर थे, उनके अतिरिक्त कोई अपनी ओर से लाना मानो भारतभूमि के बाहर पैर बढ़ाना था। यहाँ तक कि उपमाएँ भी स्थिर थीं मुख के लिए चन्द्रमा, हाथ पैर के लिए कमल, प्रताप के लिए सूर्य, कहाँ तक गिनावैं। जहाँ इनसे आगे कोई बढ़ा कि वह साहित्य में अनभिज्ञ ठहराया गया अर्थात् इन सब नियत उपमाओं का जानना भी आवश्यक समझा जाता था। पाठक! यह भाषा की स्तब्धता है, विचारों की शिथिलता है और जाति की मानसिक अवनति का चिह्न है। अब भी यदि हमारे कोरे संस्कृतज्ञ पंडितों से कोई बात छेड़ी जाती है तो वे चट कोई न कोई 'लोक उपस्थित कर देते हैं और उसी के शब्दों के भीतर चक्कर खाया करते हैं, हजशर सिर पटकिए वे उसके आगे एक पग भी नहीं बढ़ते। यदि कोई जाल व धोखे से किसी की सम्पत्ति हर ले तो पंडितजी कदाचित् उसके सम्मुख उसके कार्य की आलोचना इसी चरण से करेंगेस्वकार्यं साधायेद्धीमान्श। उनकी विचार शक्ति इन 'लोकों से चारों ओर जकड़ी हुई है, उसको अपना हाथ पैर हिलाने की स्वच्छन्दता कभी नहीं मिलती। ऐसी दशा में उन्नति के मार्ग में एक पग भी आगे बढ़ना कठिन होता है।

इसी प्रकार अनुप्रास से टँकी हुई शब्दों की लम्बी लम्बी लरी इस बात को सूचित करती है कि लेखक का ध्यान विचारों की अपेक्षा शब्दों की ध्वनि की ओर अधिक है। आरम्भ में ही कहा गया कि भाषा का प्रधान उद्देश्य लोगों को भावों व विचारों तक पहुँचाना है न कि नाद से रिझाना जो कि संगीत का धर्म है। शब्दमैत्री व यमक दिखलाने के उद्देश्य से ही लेखनी उठाना ठीक नहीं, यदि आपकी कल्पना में सद्गुण की कोई मनोहारिणी छाया देख पड़ी हो तो आप उसे खींचकर संसार के सन्मुख उपस्थित कीजिए, यदि आपके हृदय में विचारों के रगड़ से कोई ऐसी ज्योति उत्पन्न हुई हो, जिसके प्रकाश में जीव अपना भला बुरा देख सकते हों, तो आप उसे बाहर लाइए, अन्यथा व्यर्थ कष्ट न उठाइए। हम देखते हैं कि इसी रुचि वैलक्षण्य के कारण हमारे हिन्दी काव्य का अधिक भाग हमारे काम का न रहा। वहाँ विचित्र ही लीला देखने में आती है। घनाक्षरी, कविता और सवैया के 'कविन्दों' ने कुछ शब्दों का अंग भंग कर दो? एक ('सु' ऐसे, अक्षरों की अगाड़ी पिछाड़ी लगाकर बलात् और निष्प्रयोजन उन्हें एक में नाथ रखा है। वर्णन शक्ति की शिथिलता के कारण रसों के उद्रेक के लिए अत्यन्त अधिकता से ध्वनि का सहारा लिया गया है। श्रृंगार रस की कविता में 'सरस' 'मंजु' 'मंजुल' आदि शब्दों के हेतु कुछ स्थान खाली करना पड़ा है "मंजुल मूलद गुंजै मंजरीनमंजु मंजु मुदित मुरैली अलबेली डोलैं पात-पात।" कवि जी ने न जाने किस लोक में मुरैलियों को पत्तों पर दौड़ते देखा है। इसी प्रकार जहाँ वीर रस की चर्चा है वहाँ द्वित्व और वर्ग का विस्तार है, जैसे "ड़रि डरि ढरि गये अडर डराय ढह ढर-ढर ढर के धाराधार के धारके" किन्तु इस 'खडड बडड' के बिना भी वीर रस का संचार किया जा सकता है, इस बात के उदाहरण शेखर कवि का 'हम्मीर हठ', भारतेन्दु की 'विजयिनी विजयवैजयन्ती' और 'नीलदेवी' विद्यमान हैं। आज सैकड़ा पीछे कितने आदमी मतिराम, भूषण और श्रीपति सुजान के कविताओं को अनुराग से पढ़ते तथा उनके द्वारा किसी आवेग में होते हैं?, पर वहीं सूर, तुलसी, केशव, रहीम और बिहारी आदि की कविता हमारे जातीय जीवन के साथ हो गई है। उनकी एक एक बात हमारे किसी काम में अग्रसर होने व न होने का कारण होती है। इस भेदभाव का कारण क्या है? वही एक में शब्दों का व्यर्थ आडम्बर और दूसरी में भावों की स्वच्छता तथा वर्णन की उपयुक्तता। वे 'चटकीले मटकीले' शब्द लाख करने पर भी हमारे हृदय पर अधिकार न जमा सके, निकलकर हवा में मिल जाना ही उनके कार्य का शेष होता है, क्योंकि सृष्टि के नियमानुसार स्वर्गीय पदार्थ ही एक दूसरे में

लीन होने को झुकते हैं, जल ही जल की ओर जाता है, इसी प्रकार चित्त की उपज ही चित्त में धंसती है।

प्रत्येक साहित्य के अर्थालंकार में, प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष, उपमा का प्रयोग बहुत अधिक होता है, क्योंकि भौतिक पदार्थों के व्यापार, विस्तार, रूप रंग तथा मानसिक अवस्थाओं की स्थिति, क्रम, विभेद आदि का सम्यक् ज्ञान उत्पन्न करने के लिए बिना उसके काम नहीं चल सकता। इसका प्रयोग जान व अनजान में हम हर घड़ी किया करते हैं, छोट-छोटे विचारों को व्यक्त करने में भी हम बिना उसका सहारा लिए नहीं रह सकते हैं, यहाँ तक कि हमारे सब अगोचर पदार्थवाची शब्द आरम्भ में इसी (उपमा) की क्रिया से बने हैं, यह भाषा की बनावट के इतिहास से प्रमाणित है। जब शब्दों का यह हाल है तब फिर इस प्रकार की अपार्थिव भावनाओं का क्या कहना है। उनका अनुभव तो हम पार्थिव पदार्थों के ही गुण और व्यापार के अनुसार करते हैं। अर्थात् भौतिक वस्तुओं के गुण और धर्म को अपार्थिव वस्तुओं में स्थापित करके ही हम आध्यातत्मिक विषयों की मीमांसा करते हैं। साधारण दृष्टान्त लीजिए "दया ने प्रतीकार की इच्छा को दबा दिया।" "उसके प्रेम से परिपूर्ण हृदय में प्रिय के दुर्गुणों के विचार की जगह न रही।" पहिले में भौतिक पदार्थों के गुरुत्व और अपने से हलके पदार्थों को दबाकर उभरने से रोकने की क्रिया का आभास है, इसी प्रकार दूसरे में पदार्थों के स्थान छेंकने का धर्म स्थापित किया गया है। बात यह है कि इन नियमों से पार्थिव और आध्यात्मिक दोनों सृष्टियाँ समान रूप से बद्या हैं।

उपमा का कार्य सादृश्य दिखलाकर भावना को तीव्र करना है। जिस वस्तु के लिए हम कोई शब्द नहीं जानते उसका बोध उपमा ही द्वारा कराते हैं, जैसे– जो मनुष्य हारमोनियम का नाम नहीं जानता वह उसकी चर्चा करते समय यही कहेगा कि वह संदूक के समान एक बाजा है। यदि किसी वस्तु का विस्तार इतना बड़ा है कि हम उसे निर्दिष्ट शब्दों में नहीं बतला सकते तो हम चट उतने ही व उससे बहुत अधिक विस्तृत अन्य पदार्थ की ओर इंगित करते हैं, जैसे "हरियाली चारों ओर समुद्र के समान लहराती देख पड़ी।" "ज्वालामुखी से भाप और राख उठकर बादल के समान आकाश में छा गई।" हम यह न देखने जायँगे कि समुद्र का विस्तार हरियाली के फैलाव से नाप में न जाने कितना वर्गमील बड़ा है, इसकी हमें कोई आवश्यकता नहीं, यह बात निरीक्षण के समय हमारी दृष्टि की पहुँच के बाहर की है। अतएव जब तक हम विवेचना शक्ति का सहारा न लें, वह हमारी प्राप्त भावनाओं में अन्तर नहीं डाल सकती। निरीक्षण के समय

हमारी दृष्टि की पहुँच के भीतर इन दोनों (हरियाली और समुद्र) का अन्त नहीं होता यही इनमें समानता है। यदि किसी महाविशाल पिंड के आकार का परिज्ञान कराना रहता है तो उसकी तुलना हम समान आकार वाले किसी छोटे पदार्थ से करते हैं, तदनन्तर उस छोटे पिंड में उस आकार के गुण धर्म को दिखलाकर हम उनकी स्थापना बड़े पिंड में करते हैं, जैसे– स्कूलों में लड़कों से कहा जाता है कि "लड़को! पृथ्वी नारंगी के समान गोल है", क्योंकि ऐसी उपमा से हमारा कुछ काम नहीं निकलता। पदार्थों के व्यापार, गुण और स्थिति को स्पष्ट करके उनका तीव्र अनुभव कराना उपमा का काम है और कुछ नहीं। अतएव एक ही वस्तु के लिए पच्चीसों उपमाओं का तार बाँध देना, उपमा कथन के हेतु ही किसी वस्तु को वर्णन करने बैठ जाना और उससे किसी अंश में समानता रखनेवाले पदार्थों की सूची तैयार करना उचित नहीं है। जैसे– प्रभातकालीन सूर्यमंडल को देख यही बकने लगना कि "यह थाली के समान है" अथवा "शोणित सागर में बहता हुआ स्वर्ण कलश है" वा "स्वर्गलोक की झलक दिखलाने वाली गोल खिड़की है" किंवा "होली की महफिल में रखे हुए लैम्प का ग्लोब है" यह वाणी का सदुपयोग नहीं कहा जा सकता। मेरा अभिप्राय यह है कि उपमा का प्रयोग आवश्यकतानुसार ही होता है, उसका अनावश्यक और अपरिमित प्रयोग प्रलाप है। अकेले व पृथक् रूप में वह इस योग्य नहीं कि उसे भरने के लिए हम एक प्रबन्ध व पुस्तक लिख डालें। यही बात सब अलंकारों के लिए कही जा सकती है। किसी वस्तु को उसकी सीमा के बाहर घसीटना उसको उसके गुण से च्युत करना है। यह बात हमारी हिन्दी कविता में प्रत्यक्ष देखने में आती है। किसी नीतिज्ञ ने अन्योक्तियों का ही कल्पवृक्ष लगाया है, किसी नायिका भेद के भक्त ने अकेली नवोढ़ा का ही आदर्श दिखलाया है, किसी नखसिख निहारने वाले ने 'अलक' और 'तिल' पर ही शतक बाँध है। आप ही कहिए कि इतने संकुचित स्थान में भीतरी और बाहरी सृष्टि के कितने अंश का व्यापार दिखलाया जा सकता है और पाठक का ध्यान बिना ऊबे हुए कब तक उसमें बद्या रह सकता है।

धर्म वा व्यापार के पूर्णतया प्रत्यक्ष न होने के कारण जब किसी वस्तु की भावना धुँधली व मंद होती है तब उसको तीक्ष्ण और चटक करने के लिए समान धर्म और गुणवाले अन्य अधिक परिचित पदार्थों को हम आगे रखते हैं। किन्तु काव्य की उपमा में एक और बात का विचार भी रखना होता है। वह यह है कि सादृश्य दिखलाने के लिए जो पदार्थ उपस्थित किए जाएँ वे प्राकृतिक और

मनोहर हों, कृत्रिम और क्षुद्र नहीं, जिसमें ज्ञानदान के अर्थ जो रूप उपस्थित किए जाएँ वे रुचिकर होने के कारण कल्पना में कुछ देर टिकें और हमारे मनोवेगों को उभाड़ें, जो हमें चंचल करके कार्य में प्रवृत्त करते हैं। उपमान और उपमेय में जितनी ही अधिक बातों में समानता होगी उतनी ही उपमा उत्कृष्ट कही जायगी।

आलोचना की और आचार्य रामचंद्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के पहले प्रोफेसर-आलोचक हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि आलोचना और संस्थान के बीच गहरा रिश्ता हुआ करता है। नामवर सिंह ने 'वाद विवाद संवाद' के एक निबंध में एफ. आर. लीविस के हवाले से इस संदर्भ में विस्तार से लिखा है। दूसरी बात यह कि शुक्ल जी केवल हिंदी साहित्य के आलोचक नहीं हैं। वे भारतीय आलोचना की उस महान परंपरा एवं संस्कृति की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, जो भरतमुनि से शुरू होती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह कि हमारे जमाने में केवल सिद्धांत खुद को 'महान' घोषित करने-करवाने वाले कुछ आलोचकों की तरह वे शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक मात्र नहीं है। ऐसे भी शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक प्रायः पूरी तरह विश्वसनीय नहीं होता है, जब तक सैद्धांतिक आलोचना के सुनिर्णीत प्रतिमानों के आधार पर श्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभाओं की सही-सही व्याख्या नहीं होती, तब तक वह आलोचना केवल साहित्य का ज्ञान कांड बनकर रह जाने के लिए अभिशाप्त होती है। रामचंद्र शुक्ल ने अपने आलोचना सिद्धांत का निरूपण अतीत की महान साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के साथ ही अपने समय के श्रेष्ठ साहित्य को जानने-समझने के क्रम में किया है। उनकी आलोचना सच्चे अर्थों में 'सभ्यता समीक्षा' सिद्ध होती है। इसलिए उनके आलोचना सिद्धांत को किसी एक आयाम में बाँधा नहीं जा सकता है। उनकी सबसे बड़ी खूबी वह अद्वितीय रसार्द्रता एवं रसग्राहिता शक्ति है, जिसके बल पर वे हिंदी साहित्येतिहास और आलोचना के क्षेत्र में उस जमाने में प्रचलित 'कवि-कीर्तन' की परंपरा का निषेध करते हुए सैद्धांतिक वाग्जाल से हटकर हर तरह की रचनाओं के मर्म का उद्घाटन करने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

सिद्धों और नाथों के साहित्य पर विचार करते हुए शुक्ल जी 'सांप्रदायिक शिक्षा' बनाम 'शुद्ध साहित्य' का सवाल उठाते हैं। 'रामचरितमानस' की आलोचना के क्रम में वे मार्मिक स्थलों की पहचान पर बल देते हैं। 'रामचंद्रिका' की सीमाओं का निर्देश करते हुए वे साहित्य में स्थानीय रंगत

का मुद्दा उठाते हैं। बिहारीलाल के प्रसंग में वे भाषा की समासशक्ति एवं समाहारशक्ति की बात करते हैं। मतिराम के कवित्व की चर्चा के दौरान वे 'रससिद्धांत और प्रसादपूर्ण भाषा रीति' तथा भारतीय गार्हस्थ्य जीवन से छाँटकर लिए हुए मर्मस्पर्शी चित्रों में भरे भाव की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। घनानंद पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि 'प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।' पंत के संदर्भ में वे सच्चे स्वच्छंदतावाद के आयाम को प्रस्तुत करते हैं। निराला पर बात करते हुए वे कवि की 'बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा' तथा 'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने' के उनके प्रयास को रेखांकित करते हैं।

कहना न होगा कि जो आलोचक इतने सारे कोणों से साहित्य पर दृष्टिपात कर रहा हो, उसे केवल रसवादी या लोकवादी आचार्य कहकर छुट्टी पा लेना कतई जायज नहीं है। शुक्ल जी हमारी भाषा और साहित्य के एक महान व्यक्तित्त्व हैं, जिन्होंने कदाचित पहली बार हजार वर्षों से विकसनशील हिंदी साहित्य की परंपरा को कायदे से साहित्येतिहास का स्थापत्य प्रदान किया। शुक्ल जी के निधन के ठीक पहले उनके अपराजेय व्यक्तित्त्व पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखा था कि 'भारतीय काव्यालोचनशास्त्र का इतना गंभीर और स्वतंत्र विचारक हिंदी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक से नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ।'

याद रहे कि कि रामचंद्र शुक्ल की महानता का एकमात्र कारण यही नहीं है, हालाँकि यह उनकी महानता का एक बहुत बड़ा कारण है। वस्तुतः उनकी वास्तविक महानता को हम भरत, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट की परंपरा में रखकर ही देख सकते हैं। कारण यह कि शुक्ल जी को भारतीय साहित्यशास्त्रीय चिंतन की उस परंपरा के पुनराख्यान का श्रेय प्राप्त है, जिसका आरंभ भरतमुनि से और अंत मध्यकाल में मम्मट के साथ हो गया था। मम्मट की पीठ पर रीतिकाल की परंपरा के जो आचार्य आए, उनकी शुक्ल जी के महान व्यक्तित्त्व से कोई तुलना नहीं हो सकती। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मम्मट के बाद दो-ढाई सौ वर्षों की आचार्यत्व की लंबी परंपरा के दौरान हमारी आलोचना के अंर्तगत किसी विशिष्ट प्रतिमान या उल्लेखनीय मूल्य का निर्धारण नहीं हो सका। सच तो यह है कि किसी भी भाषा या साहित्य में रामचंद्र

शुक्ल जैसा व्यक्तित्त्व अपने समय की सभ्यता एवं संस्कृति के भीतर गहरे आलोड़न तथा उसकी आंतरिक माँग के दबाब के तहत पैदा होता है।

रामचंद्र शुक्ल जहाँ एक हद तक भौतिकवादी थे और साहित्य को समाज का वस्तुगत उत्पाद मानते थे, वहीं दूसरी ओर वे संस्कार की दृष्टि से सच्चे अर्थों में वैष्णव थे। आम तौर पर भौतिकवाद और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के साथ वैष्णव संस्कार की परंपरा परस्पर विरोधी प्रतीत होती है, पर शुक्लजी के व्यक्तित्त्व में हमें 'विरुद्धों का सामंजस्य' दिखाई देता है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर वे वस्तुवादी और बुद्धिवादी के बजाय चैतन्यवादी प्रतीत होते हैं और इस प्रकार वे हेगेल की अपेक्षा इमानुएल कांट के ज्यादा निकट दिखाई देते हैं। दूसरे शब्दों में वे संसार को भ्रम और मिथ्या बताने वाले शंकराचार्य की तुलना में जगत को परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानने वाले रामानुज के करीब सिद्ध होते हैं। संभवत: इसी कारण उन्होंने धर्म को सर्वत्र व्यक्तिगत साधना के बजाए लोकमंगल के अस्त्र के रूप में रेखांकित किया है। जगह-जगह सामजिक स्थिति और रचनाकर्म के बीच कारण-कार्य संबंध स्थापित करने की कोशिश के चलते नलिन विलोचन शर्मा ने उन्हें साहित्य का विधेयवादी (पोजिटिविस्ट) इतिहासकार बतलाया है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि शुक्ल जी विधेयवादी हैं, पर आश्चर्यजनक नव्यता के साथ।

स्मरणीय है कि सच्चा वैष्णव बुनियादी तौर पर विद्रोही हुआ करता है। चूँकि वह चापलूस या खुशामदी कदापि नहीं हो सकता, इसलिए दरबारी वातावरण उसको रास नहीं आता। वैष्णवता की इसी सत्यनिष्ठ भावभूमि से हिंदी के इस प्रथम महान आलोचक का जन्म हुआ, जिसे जनसामान्य से विलग रहने वाले राजदरबारी खुशामदी रीतिकवियों के बजाए जनभावना एवं जनमानस के ज्यादा करीब रहने वाले नि:स्वार्थ भक्त कवि अच्छे लगे।

शुक्ल जी मोटे तौर पर गांधी-युग के लेखक थे और कहना न होगा कि उस युग में गांधीवाद के प्रभाव से मुंशी प्रेमचंद जैसे– यथार्थदर्शी कलाकार भी किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित थे। गांधी का वैष्णवता में गहरा विश्वास था और रामचंद्र शुक्ल भी उसी भावभूमि की उपज थे। परंतु तोल्सतोय, गांधी आदि महापुरुषों की 'निष्क्रिय प्रतिरोध' एवं 'दुर्जनों-दुष्टों' से भी सौहार्दपूर्ण व्यावहार करने वाली भावना का जमकर विरोध करते हुए शुक्ल जी ने 'रस मीमांसा' में लिखा कि 'दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम

जताने तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती... मनुष्य के शरीर में जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।' शुक्ल जी की आलोचना-दृष्टि में हमें एक ओर अन्याय के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध की चेतना दिखाई पड़ती है, तो दूसरी ओर चापलूसी और खुशामद करने या चाहने वाली सामंती-दरबारी मानसिकता के प्रति वितृष्णा भी। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदी कवियों को सच्चा कवि मानने से इनकार करते हुए वे लिखते हैं कि 'ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता देवी के मंदिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूँढा करते, वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौंदर्य का दर्शन करते हैं, जिसकी छाया महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।'

जाहिर है कि शुक्ल जी के पूर्व रीतिकाव्य का विरोध आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया था, पर शुक्लजी ने इस विरोध को एक सामाजिक-सांस्कृतिक आधार प्रदान किया। रीतिकवियों पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने लिखा कि एक ओर ऐसे कविराज थे, जो राजाओं के मुँह में मकरध्वज डालते थे तो दूसरी ओर उनके कान में मकरध्वज डालनेवाले कविराज भी थे। इस प्रकार शुक्ल जी रीतिवाद का विरोध करते हुए प्रकारांतर से सामंती विलासिता एवं भोगवाद के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं और इसी क्रम में उनके आलोचनात्मक प्रतिमान निर्धारित होते हैं, जिनके मूल में लोकमंगल की भावना निहित है।

गौरतलब है कि हिंदी आलोचना में 'लोक' शब्द का इतने व्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय रामचंद्र शुक्ल को ही प्राप्त है और उनके लिए लोक का अर्थ है 'जगत'। उनकी यह धारणा अँग्रेजी के 'फोक' या हिंदी में उसी अर्थ में अनुदित 'लोक' से भिन्न एवं व्यापक धारणा है। अध्यात्मवादियों की तरह लोक को जड़ और स्थिर मानने के बजाए उनका लोक-जगत सत्य एवं विकसनशील है। मनुष्य के सारे ज्ञान एवं अनुभूतियों को लोकाधृत मानते हुए वे लिखते हैं कि 'मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और

विकास होता है।' लोकचित्तवृत्ति के काव्य परंपरा के साथ सामंजस्य के संदर्भ में कविता की पहचान निरुपित करते हुए उन्होंने लिखा है–'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य की भावभूमि पर ले जाती है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता ही नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है।' उनकी स्पष्ट धारणा है कि लोक हृदय की सच्ची पहचान के बगैर कोई सही मायने में कवि या कलाकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि कला और जीवन का लोकपाक धरातल समरूप है। यदि गंभीरतापूर्वक विचारें, तो स्पष्ट होगा कि शुक्लजी का साधारणीकरण वाला सिद्धांत भी लोकानुभूतिपरक ही है। इस प्राचीन काव्यशास्त्रीय प्रत्यय व पद्धति को वे अपनी लोकवादी दृष्टि के अनुरूप यथार्थ की भूमि पर आधृत करके अनुभवगम्य लौकिक भावभूमि प्रदान करते हैं। वे मानते हैं कि लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित हुए बगैर केवल रसवाद की कसौटी पर श्रेष्ठ साहित्य की रचना असंभव है।

विचित्र बात है कि जिन रामचंद्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' की रचना की, उन्होंने ही 'रसवाद' के विरुद्ध खंडनात्मक रुख भी अख्तियार किया। 'रसवाद' के खिलाफ पोलेमिक्स रचने की सबसे बड़ी वजह यह थी कि मध्यकाल तक आते-आते 'रस सिद्धांत' का सत्व स्खलित हो चुका था तथा उसकी 'सैद्धांतिक गतिकी' या 'गतिमय सिद्धांतकी' जड़ता की अवस्था में पहुँच चुकी थी। इस ओर इंगित करते हुए वे लिखते हैं–'रीतिग्रंथों की बदौलत रसदृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो उद्दीपन में डाल दिए गए और कुछ भावक्षेत्र से निकाले जाकर अलंकार के खाते में हाँक दिए गए। ...हमारे यहाँ के कवियों को रीतिग्रंथों ने जैसा चारों ओर से जकड़ा, वैसा और कहीं के कवियों को नहीं। इन ग्रंथों के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो गई, लक्षणों की कवायद पूरी करके वे अपने कर्त्तव्य की समाप्ति मानने लगे। वे इस बात को भूल चले की किसी वर्णन का उद्देश्य श्रोता के हृदय पर प्रभाव डालना है।' शुक्ल जी इस बात से बिल्कुल बेखबर नहीं थे कि प्रायः काव्यशास्त्र या आलोचना के महान कहे जाने वाले प्रतिमानों में अपनी तरह के आलोचकीय वर्चस्व के बीज छिपे होते हैं। इसी वजह से प्रतिमानों की बहुलता और उनकी विशिष्ट मुखरता-विधियों से निरंतर लोकतांत्रिक आलोचनात्मक संबंध बनाने के उनके बौद्धिक परिश्रम में भी इस वर्चस्व के प्रतिरोध की एक विधि अवश्य निहित है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है - 'भाव भेद रस भेद अपारा।' स्पष्ट ही भाव और रस को किसी

संख्या में बाँधना असंभव है। काव्यशास्त्र में वर्णित नौ रस तो वस्तुतः उपलक्षण मात्र है। वे कदापि अंतिम नहीं माने जा सकते। दूसरे शब्दों में कहें, तो जब भी कोई बड़ी प्रतिभा जन्म लेती है, तो वह अपने कृतित्त्व से भावक्षेत्र और रसक्षेत्र का विस्तार करती है। उदाहरण के लिए सूरदास जैसे कवि के चलते 'वात्सल्य' रस की कोटि में शुमार हुआ। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर सरीखे कवियों के कृतित्त्व ने राष्ट्रीयता को रस की ऊँचाई तक पहुँचा दिया।

रीतिग्रंथों की समस्या यह थी कि इनके चलते साहित्य में भावक्षेत्र अत्यंत संकुचित हो गया था। सबसे पहले भोज ने, जो एक सामंत था,'शृंगारप्रकाश' नामक ग्रंथ लिखकर शृंगार को 'रसराज' के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके परिणामस्वरूप अन्य रस काव्यक्षेत्र से लगभग बहिष्कृत हो गए। इतना ही नहीं, मध्यकाल में शृंगार के नाम पर जो रचनाएँ लिखी जा रही थी, उनमें से ज्यादातर में श्रोता या पाठक के मन को किसी उज्ज्वल ऊँचाई पर पहुँचाने की सामर्थ्य के बजाए छिछली रसिकता थी। हिंदी में केशवदास की रसिकता सर्वविदित है। बुढ़ापे में सुंदर स्त्रियों द्वारा 'बाबा' कहे जाने पर उन्हें जो पीड़ा हुई थी, उसके मद्देनजर वे कथित तौर पर एक बड़े 'रसिक' जीव सिद्ध होते हैं–

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि-कहि जाहिं।।

गौरतलब है कि ऐसे रसिक व्यक्ति के बारे में शुक्ल जी ने लिखा–'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता भी न थी, जो एक कवि में होनी चाहिए। ...प्रबंधकाव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। ...वे वर्णन के लिए करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। ...केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करने वाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति, जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तुवर्णन के लिए।' परंपरा से कवियों का जो पदानुक्रम बना हुआ था, उसमें सूरदास और तुलसीदास के बाद केशवदास को तीसरा स्थान प्राप्त था। मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में तो केशवदास को बहुत ऊँचा दर्जा दिया गया था। कहने की जरुरत नहीं कि आचार्य शुक्ल ने इस पूरे पदानुक्रम को इस हद तक बदल दिया कि डॉ. नगेंद्र की लाख कोशिशों के बावजूद केशव को खोई हुई प्रतिष्ठा वापस नहीं मिल सकी। बीसवीं शताब्दी में हिंदी साहित्य में आधुनिकतावाद के शलाका पुरुष कहे जाने वाले अज्ञेय ने 'केशव की कविताई' शीर्षक निबंध लिखकर केशव को

हिंदी कविता की परंपरा की मुख्यधारा से जोड़ने की जबरदस्त पेशकश की, परंतु एक बार शुक्ल जी द्वारा मुख्यधारा से बाहर कर दिए जाने के बाद पुनः उसमें उनकी वापसी संभव न हो पाई। इससे पता चलता है कि कैसे बड़ा आलोचक अपने आलोचनात्मक मूल्यों के तहत साहित्येतिहास में कवियों के पहले से बने बनाए पदानुक्रम को बदल देता है। अँग्रेजी साहित्य के इतिहास में एलियट के पूर्व शेली, कीट्स और बायरन को आधुनिक काल में महाकवि का दर्जा प्राप्त था। परंतु एलियट के बाद जॉन डन, विलियम ब्लेक जैसे दार्शनिक कवियों को केंद्रीय स्थान मिला। रामचंद्र शुक्ल ने केशवदास को अपदस्थ कर मलिक मुहम्मद जायसी का उद्धार किया और हिंदी साहित्य में सूर एवं तुलसी के बराबर उन्हें स्थान दिया। स्मरणीय है कि मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में जायसी को शामिल नहीं किया गया था। जायसी के 'पद्मावत' में नागमती के विरह वर्णन को शुक्ल जी हिंदी साहित्य में अद्वितीय घोषित करने के साथ ही मध्यकाल में जायसी को हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वाले कवियों में एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में स्थापित करते हैं। उनका मानना था कि भक्तिकाव्य संस्कृत काव्यशास्त्र के सामने चुनौती है और कहना न होगा कि इस चुनौती का अपने स्तर पर उन्होंने सामना भी किया।

वस्तुतः शुक्ल जी का रीतिवाद-विरोध उनकी सामंत-विरोधी चेतना की सांस्कृतिक प्रतिध्वनि है। इसीके चलते वे रीति कवियों के बजाए भक्त कवियों को तरजीह देते हैं और आगे चलकर भारतेंदु हरिशचंद्र को उनकी सामाजिक चेतना के मद्देनजर आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। दूसरे शब्दों में अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक क्षयिष्णु परंपरा से लोहा लेते हुए शुक्ल जी रसवादी होने के बावजूद अपनी आलोचना में प्रकारांतर से रसवाद के विरुद्ध खंडनात्मक रुख अख्तियार करते हैं, 'पॉलेमिक्स' रचते हैं। इसके साथ ही वे पश्चिम के औपनिवेशिक वैचारिक एवं सांस्कृतिक आक्रमण से भी दो-चार होते हैं। उस जमाने में फ्रांस में उत्पन्न बहुत सारे वाद इंग्लैंड से होते हुए बंगाली भाषा के माध्यम से भारत में घुसपैठ कर रहे थे। सन् 1890 में रवींद्रनाथ की 'निर्झरेर स्वप्नभंग' कविता प्रकाशित हुई थी और तब तक उनकी ख्याति धीरे-धीरे पूरे भारत में फैल गई थी, जिसका प्रभाव हिंदी की आरंभिक छायावादी कविता पर बहुत हद तक पड़ा था। इतने बड़े माने जाने वाले भारतीय कवि के बारे में शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा कि वे बहुत बड़े आलंकारिक मालूम पड़ते हैं। इसी प्रकार उस जमाने में लिखी जा रही छायावादी कविताओं की

अभिव्यंजना शैली एवं उनमें निहित रहस्यात्मकता का विरोध करते हुए उनका कहना था कि 'छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र, वस्तुविन्यास की वि शृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभावपक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरोन्मुख काव्यक्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया।' आज यह सर्वविदित है कि शुक्ल जी की आलोचना से कालांतर में छायावाद में गुणात्मक परिवर्तन आया और वह आगे चलकर समृद्ध हुआ। नतीजतन उसमें 'कामायनी' एवं 'राम की शक्तिपूजा' जैसी श्रेष्ठ कविताओं की रचना संभव हो सकी।

वे हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने 1929 ई. में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' जैसा महत्वपूर्ण निबंध लिखा और यह जानी हुई बात है कि यह निबंध छायावादी काव्यांदोलन की छाया में लिखा गया था, तब तक छायावाद के कई कवि अनेकानेक प्रकृति विषयक कविताएँ लिख चुके थे, जिनमें पंत का 'पल्लव' संग्रह सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ऐसे में शुक्ल जी अपनी पूरी साहित्यिक परंपरा का संधान करते हुए इस संदर्भ में वाल्मीकि की महानता पर प्रकाश डालते हैं और छायावाद की शक्ति एवं सीमा का निर्देश करते हैं। वे छायावाद के हृदय पक्ष को स्वीकृति प्रदान करते हैं, लेकिन उस पर हावी अभिव्यंजनावादी तत्त्वों को अस्वीकार करते हैं। अभिव्यंजनावाद उन्हें एक तरह का अलंकारवाद प्रतीत होता है, जिसे वे 'वक्रोक्तिवाद के विलायती उत्थान' के रूप में अभिहित करते हैं। इस प्रसंग में प्रकृति के चितेरे कवि माने जाने वाले सुमित्रानंदन पंत के बारे में वे लिखते हैं कि 'पंतजी की 'छाया', 'वीचिविलास', 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर लगा है, उनमें से बहुत से तो अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यंजक है और बहुत से रंग-बिरंगे खिलौनों के रूप में ही हैं। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यंजनावाद' के उदाहरण-सी लगती है, जिसके अनुसार कविकल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है। प्रकृति के सच्चे स्वरूप, उसकी सच्ची व्यंजना... करना उक्त वादों के अनुसार आवश्यक नहीं। प्रकृति के नाना चित्रों के द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करना तो बहुत ठीक है, पर उन भावनाओं को व्यक्त करने को स्वाभाविक प्रवृत्ति भी तो गृहीत चित्रों में होनी चाहिए।' इसी प्रकार 'रहस्यवाद' को भी उस जमाने की हिंदी कविता के

स्वाभाविक विकास में बाधक मानते हुए उन्होंने लिखा कि 'हिंदी में स्वच्छंदतावाद का प्रवाह रवींद्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं के अतिरिक्त प्रभाव तथा अँग्रेजी से तरह-तरह के लाक्षणिक प्रयोगों के ज्यों के त्यों हिंदी अनुवाद जड़ी रचनाओं के चलते अवरुद्ध हुआ। 'कनक प्रभात', 'विचारों में बच्चों की साँस', 'स्वर्ण समय', 'प्रथम मधुबाल', 'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल क्रांति', ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। ...काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तुयोजना चाहे लोकोत्तर हो, पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात स्वाभाविक वासनाजन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा, तो हृदय से उसका संबंध क्या रहेगा?' कहना न होगा कि शुक्लजी की आलोचना के बाद अभिव्यंजनावाद एवं रहस्यवाद का धुंधलका छट जाता है और छायावाद प्रौढ़ता प्राप्त करता है। उनकी धारणा थी कि स्वच्छंदतावाद लोकजीवन की सरलता, सरसता से आप्लावित एक ऐसा काव्यांदोलन था, जिसमें प्राचीन रुढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव था। हिंदी में उन्हें इसका आरंभिक रूप श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्य में जब दिखाई पड़ा, तो उन्होंने इसकी सराहना की, परंतु जब छायावाद के नाम पर रचित ज्यादातर कविताओं में उन्हें अभिव्यंजनावाद के साथ-साथ गुंजलक मारकर बैठी रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ प्रचुर मात्रा में दिखाई देने लगीं, तो एक जिम्मेदार आलोचक के तौर पर उन्होंने इसकी बखिया उधेड़नी शुरू की। वस्तुतः छायावादी कविता में मौजूद रहस्यवादी चेतना का शुक्लजी की वैज्ञानिक परिदृष्टि से कोई मेल नहीं बैठ रहा था। बावजूद इसके यह ध्यान देने योग्य बात है कि कविता में जहाँ-जहाँ रहस्यवाद अपनी पूरी स्वाभाविकता के साथ संचरण करता है, उसका समर्थन करने में शुक्ल जी कदापि नहीं हिचकते। उदहारण के लिए पंत की 'स्वप्न' एवं 'मौन नियंत्रण' कविता उन्हें रहस्यवाद की स्वाभाविक भूमि पर संचरित होती दिखाई देती है। उन्होंने लिखा है - 'पंतजी की रहस्यभावना स्वाभाविक है, सांप्रदायिक (डागमेटिक) नहीं। ऐसी रहस्यभावना इस रहस्यमय जगत के नाना रुपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी-कभी उठा करती है। ...'गुंजन' में भी पंतजी की रहस्यभावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है।' उनके ऐसे अनेकानेक वक्तव्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि वे दुराग्रही आलोचक नहीं थे।

कविता को शुक्लजी ने भाव-व्यापार माना है और इस क्रम में 'हृदय की मुक्तावस्था' या रसदशा को महत्व प्रदान कर उन्होंने कदाचित इसे पुष्ट भी किया

है। उनके अनुसार लोक हृदय मंत लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है। स्मरणीय है कि भाव पर बल देने के बावजूद वे रूप को नकारते नहीं है। उन्होंने लिखा है कि 'जगत अनेक रूपात्मक है और हमारा हृदय अनेक भावात्मक है।' उनके अनुसार कवि का काम इन दोनों के बीच रागात्मक संबंध कायम करना है। इतना ही नहीं, वे भावना को ज्ञान का सहचर मानते हैं। उन्होंने भाव को प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का गूढ़ संश्लेष बताते हुए यह भी लिखा है कि 'दूसरे के अंतर्गत आलंबन के प्रति अनुभूति विशेष के बोध के अतिरिक्त अनेक प्रकार की भावनाएँ और विचार भी आ जाते हैं।' कवियों की 'अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद' करने के पूर्व शुक्लजी उनके जीवन-वृत्त से भी पाठकों को अवगत कराते हैं। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में कवि का जीवन, उसकी विचारधारा, भावबोध, शिल्प आदि की परस्पर-संबद्धता से ही काव्यार्थ निर्मित होता है। यह ठीक ही कहा गया है कि कवि एक ओर ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ होती है, तो दूसरी ओर वह उन वस्तुओं के अनुरूप भावों का अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है और कविता में कवि कर्म विधान के ये दोनों पहलू अन्योन्याश्रित होते हैं, परंतु ध्यान देने की बात है कि यदि 'अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना ही कवि कर्म है', तो यह कार्य वस्तुनिष्ठ तथ्यों का सहारा लिए बगैर असंभव है। एलियट के शब्दों में कहे, तो बिना वस्तुगत प्रतिरूप के किसी भाव या अनुभूति को दूसरों तक संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

रामचंद्र शुक्ल का एक बहुत बड़ा अवदान है 'रस निष्पत्ति' को रहस्य के आवरण से बाहर निकालकर उनके मनोवैज्ञानिक रूप की प्रतिष्ठा। 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि ने रस की निष्पत्ति के बारे में लिखा है 'विभावानु भावव्या भिचारि संयोगा द्ररस-निष्पत्तिः।' वस्तुतः यह प्रक्रिया एक मनोदैहिक (साइकोसोमैटिक) प्रक्रिया है। परंतु भरत के बाद भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन पर विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों एवं निकायों का इतना ज्यादा असर हुआ कि अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत सिद्धांत के आधार पर रस को आनंदमय मानते हुए बल देकर कहा कि यह आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। कालांतर में रस को आनंदस्वरूप मानकर उसे ब्रह्म के साहचर्य से आत्मा को प्राप्त होने वाले तथाकथित आनंद का सहोदर घोषित कर दिया गया। पंडितराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में लिखा -

'सत्वोद्रेकादखंडस्वप्रकाशानंद चिन्मयः
वेद्यांतरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः
लोकोत्तरचमात्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।'

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने विवेचन में रस के आध्यात्मिक आनंदस्वरूप होने का खंडन करते हुए साफ लिखा कि 'अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई जरूरत नहीं है। ...इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है।.. उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।' 'रस मीमांसा' में एक लंबा उदाहरण देकर वे बतलाते हैं कि क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपने प्रकृत रूप का त्याग करके आनंदस्वरूप कदापि नहीं बनते। इसी प्रकार 'सत्यहरिश्चंद्र' की शैव्या के उदाहरण के द्वारा वे स्पष्ट करते हैं कि दुःखात्मक भाव आनंद के बजाए दुःख की ही अनुभूति कराते हैं। प्राचीन मान्यता के अनुसार दुःख की अनुभूति रसात्मक नहीं मानी जाती थी। इसका खंडन करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि 'करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के संबंध में यह कहना कि आनंद में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।' निश्चित तौर पर रसात्मक अनुभूति से व्यक्तित्त्व समृद्ध होता है, निजता का परिहार होता है और पाठक लोक हृदय में लीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में जब आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, तो हम उच्च कोटि की रसदशा को प्राप्त करते हैं। इस प्रक्रिया में आश्रय के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है। ऐसे तो आलंबन कोई व्यक्ति विशेष ही होता है, पर उसमें लेखक ऐसे गुणों एवं धर्मों की प्रतिष्ठा करता है, जो सबके हो जाते हैं और सबमें समान भावों की उत्पत्ति या अनुभूति कराते हैं। इससे विलग जब श्रोता, पाठक या दर्शक काव्य या नाटक में आए किसी पात्र से शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करता है, तो शुक्लजी की दृष्टि में यह मध्यम कोटि की रस दशा है। उनके अनुसार उपरोक्त दोनों ही स्थितियों से भिन्न जब रचनाकार चमत्कार और वैचित्र्य से पाठक को आश्चर्य और कुतूहल मात्र की अनुभूति कराने की चेष्टा करता है, तो यह निम्न कोटि की रसदशा होती है, जिसके मूल में व्यक्तिवाद होता है।

विजयदेव नारायण साही की शब्दावली उधार लेकर कहें तो आलोचना यदि साहित्य का दर्शन शास्त्र है, जिसके तहत संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण

करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाया जाना जरूरी है, तो जाहिर तौर पर रामचंद्र शुक्ल एक भाववादी आलोचक एवं विचारक सिद्ध होते हैं, परंतु उनका भाववाद एक ऐसा विवेकशील भाववाद है, जो अंततः भौतिकवाद का सहयोगी सिद्ध होता है। सौंदर्यानुभूति-विषयक भाववादी धारणा के बजाए उनके दृष्टिकोण में भौतिकवाद के बीज विद्यमान हैं। उन्होंने लिखा है कि 'जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु से अलग सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।' आगे वे 'तदाकार परिणति' पद का प्रयोग करते हुए सिद्ध करते हैं कि 'सौंदर्य न तो मात्र चेतना में होता है और न ही सिर्फ वस्तु में, दोनों के संबंध से ही सौंदर्यानुभूति होती है।' वे जड़ता के बजाए गति में सुंदरता को रेखांकित करने के आग्रही हैं। भले ही वह गति सफल हो या विफल। शुक्ल जी की सौंदर्य-दृष्टि में निहित संघर्ष की चेतना तब और खुलकर सामने आती है, जब वह कहते हैं कि 'विफलता में भी एक निराला विलक्षण सौंदर्य होता है।'

इसलिए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि शुक्लजी के लिए आलोचना साहित्यिक कृतियों के निष्क्रिय रसास्वादन के बजाए एक सक्रिय मूल्यांकन है और उनका प्रत्येक मूल्यांकन गहरे वैचारिक संघर्ष का नतीजा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने सही लिखा है कि 'प्राचीन साहित्यशास्त्री स्थायी भावों को रसरूप में प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया का अंत निष्क्रियता में कर देते थे। शुक्ल जी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काट दी है।'

किसी राष्ट्र की संस्कृति के निर्माण में आलोचना की भूमिका की शिनाख्त करते हुए अज्ञेय ने कहा था–'हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा, क्योंकि आलोचना अनुभूति को गहरा और विस्तृत करती है, और गहरी तथा विस्तृत अनुभूति के बिना संस्कृति संभव नहीं है।' इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना हिंदी में सांस्कृतिक आलोचना का प्रस्थान बिंदु सिद्ध होती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शुक्लजी के बारे में लिखा है–'आचार्य का विषय प्रतिपादन जैसा गुरु गंभीर है, उसके बीच उनका सूक्ष्म व्यंग्य और तीव्र तथा पैना हो गया है, घनी-बड़ी मूँछों के बीच हल्की मुस्कान की तरह।

7

रामविलास शर्मा

हिंदी आलोचना में रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति 'प्रगतिवादी समीक्षा' के आधार स्तंभ के रूप में स्वीकार की गई है। उनकी आलोचना का क्षेत्र न केवल विषय की दृष्टि से बल्कि कार्य की दृष्टि से भी अत्यधिक विस्तृत है। उन्होंने हिंदी आलोचना की चर्चा करते हुए संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य, भाषा विज्ञान, इतिहास, मार्क्सवाद, उपनिवेशवाद, समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र जैसे विषयों पर गहराई से विचार किया है। उनकी आलोचना का काल भी प्रायः 1934 (निराला जी की कविता) से शुरु होकर 2000 ई. (भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश) तक लगभग सात दशकों में विस्तृत है। इस रूप में समय के साथ-साथ कुछ बाहरी परिवर्तन तो उनकी आलोचना में दिखाई देते हैं, पर जैसा कि उन्होंने खुद कहा है कि उनका दृष्टिकोण तो मूलतः एक ही है, जो समय के साथ-साथ कुछ बदल गया है। उन्हें आलोचकों में रामचंद्र शुक्ल (आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना), उपन्यासकारों में प्रेमचंद (प्रेमचंद और उनका युग) तथा कवियों में निराला (निराला की साहित्य साधना) सर्वाधिक प्रिय हैं।

किसी आलोचक का मूल्यांकन मूलतः उस दृष्टिकोण का मूल्यांकन होता है, जिसे वह अपनी कृतियों में धारण करता है। इस दृष्टिकोण से देखें तो डॉ. शर्मा मूलतः एक मार्क्सवादी रचनाकार हैं, किंतु उन्होंने अपने सृजनात्मक विवेक से मार्क्सवाद का एक प्रगतिशील संस्करण तैयार किया है। इनके लिए

प्रगतिशीलता किसी भी परंपरा का सकारात्मक निषेध है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' में स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार लेनिन आदि दार्शनिकों ने मार्क्सवाद को परिस्थितियों के अनुकूल बनाया है वैसे ही भारत की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए मार्क्सवाद में आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं।

डॉ. शर्मा न केवल मार्क्सवाद में संशोधन की बात करते हैं, बल्कि करके दिखाते भी हैं। वे सिद्ध करते हैं कि मार्क्स द्वारा विश्लेषित औद्योगिक पूंजीवाद चाहे इंग्लैंड में पहले आया हो, किंतु पूंजीवाद का एक और प्रकार व्यापारिक पूंजीवाद 12वीं-13वीं शताब्दी में ही आ चुका था। मार्क्स ने पूंजी या उत्पादन प्रणाली को 'आधार' तथा शेष सामाजिक पक्षों को 'अधिरचना' माना था तथा आधार में परिवर्तन से अधिरचना की स्थिति को प्रभावित माना था। रामविलास जी इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं है, क्योंकि पुरानी अधिरचना के तत्त्व लिए बिना नई अधिरचना नहीं बन सकती, वे आर्थिक कारणों के साथ-साथ सामाजिक कारणों को भी महत्व देते हैं। क्रांति में मजदूरों के साथ किसानों की भूमिका को भी स्वीकार करते हैं, इस प्रकार मार्क्सवाद का एक नया संस्करण तैयार करते हैं।

साहित्य के संबंध में भी उनकी प्रमुख मान्यताएँ या तो मौलिक हैं या सामाान्य प्रगतिवादियों से अलग हैं। सबसे पहले वे 'सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास' नामक निबंध में सौंदर्य को केवल व्यक्ति या विषय में नियत करने के स्थान पर दोनों की अंतर्क्रिया के रूप में देखते हैं। वे साहित्य को भाषा, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, समाज और भौगोलिक परिवेश से बनने वाली जातीयता से जोड़कर देखते हैं। उर्वशी की समीक्षा करते हुए प्रगतिशील आंदोलन के लोकवादी स्वरूप के भीतर रस सिद्धांत को स्वीकार कर लेते हैं। निराला की महानता को स्पष्ट करते हुए उनकी जन्मजात प्रतिभा को स्वीकार करते हैं और प्रगतिशील आंदोलन में प्रेम की संभावना को घोषित रूप से स्वीकृति देते हुए कहते हैं - 'प्रेम और प्रगतिशील विचारधारा में कोई आंतरिक विरोध नहीं, लेकिन स्वामी विवेकानंद से प्रभावित होने वाले क्रांतिकारी यह समझते आए थे कि क्रांति और ब्रह्मचर्य का अटूट संबंध है जैसे– आजकल के बहुत से कवि और कहानीकार समझते हैं कि आधुनिकता बोध का अटूट संबंध, परकीया प्रेम से है।' इसी सृजनात्मक शक्ति का परिणाम है कि वे अपनी प्रगतिशीलता में वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण कर पाते हैं।

रामविलास जी की व्यावहारिक आलोचना का प्रस्थान बिंदु रामचंद्र शुक्ल हैं। उन्होंने उस समय के आलोचकों द्वारा शुक्ल जी की आलोचना का खंडन करने की प्रवृत्ति को देखते हुए उनके महत्व को वैसे ही स्थापित किया जैसे उपन्यासकार के तौर पर प्रेमचंद और कवियों के रूप में निराला को। उनका मानना था कि शुक्ल जी ने आलोचना के माध्यम से उसी सामंती संस्कृति का विरोध किया, जिसका उपन्यास के माध्यम से प्रेमचंद और कविता के माध्यम से निराला ने। उन्होंने शुक्ल जी के छायावाद संबंधी मत को समझाते हुए तर्क दिया कि वे नएपन के नहीं बल्कि अगोचरता, परोक्षता तथा लाक्षणिकता के विरुद्ध थे। अगर ऐसा न होता तो वे प्रसाद की लोकपक्ष समन्वित कविता तथा पंत की प्राकृतिक रहस्य भावना का समर्थन न करते। रीति काव्य के संबंध में उन्होंने डॉ. नगेन्द्र के मत का खंडन करते हुए शुक्ल जी के मत की पुनः प्रतिष्ठा की तथा संत साहित्य की समीक्षा में शुक्ल जी के अधूरे कार्य को पूरा करते हुए उसके महत्व का उल्लेख किया।

रामविलास शर्मा की साहित्यिक आलोचना का महत्वपूर्ण बिंदु निराला की साहित्य साधना है, जो कि वस्तुतः रामविलास जी की ही साहित्य साधना है। इस रचना के पहले खंड में उन्होंने निराला के व्यक्तित्त्व तथा उनकी निर्माणकारी परिस्थितियों की समीक्षा की है। यह हिंदी समीक्षा का वह दुर्लभ बिंदु है जहाँ व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व अलग-अलग न रहकर एक दूसरे में घुल मिल जाएं। निराला हिंदी में प्रायः शक्ति, ऊर्जा तथा ओज के रचनाकार माने गए हैं, किंतु डॉ. शर्मा ने उनके साहित्य का गहरा विश्लेषण करते हुए करुणा को उसके मूल भाव के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा उन्हें पश्चिम की महान ट्रेजडी लेखन की परंपरा से संबद्ध किया। इतना ही नहीं उन्होंने निराला-साहित्य के कला पक्ष का भी विस्तृत अध्ययन किया। ट्रैजिक सेंस की दृष्टि से वाल्मीकि, भवभूति तथा तुलसी से और समग्रता की दृष्टि से टैगोर, तुलसी और सूर से निराला की तुलना और मूल्यांकन किया है।

रामविलास जी ने उन रचनाकारों के महत्व की स्थापना की जो किसी न किसी रूप में साहित्य की जनवादी परंपरा से जुड़े हुए थे। ऐसे रचनाकारों में प्रेमचंद का नाम अग्रगण्य है। उनके 'सेवासदन' को डॉ. शर्मा ने नारी पराधीनता को उजागर करने वाला उपन्यास तो गोदान को ग्रामीण और शहरी कथाओं को मेहनत और मुनाफे की दुनिया का अंतर बताने वाला माना। इसके अतिरिक्त 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' में भारतेंदु तथा उनके

युगीन लेखकों के महत्व का अंकन किया तथा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में नवजागरण के संदर्भ में द्विवेदी जी के आर्थिक-सामाजिक व अन्य विषयों के विश्लेषण को महत्व प्रदान किया।

रामविलास शर्मा की एक सीमा यह है कि वे जिस रचनाकार को पसंद नहीं करते उसके प्रति विध्वंसात्मक रवैया अपना लेते हैं। उनकी आलोचना इस बात को भी लेकर की जाती है कि वे पहले अपना शत्रु तय कर लेते हैं फिर उसके विचारों को पढ़कर तथा संभावित विचारों की कल्पना करके आक्रामक शैली में आलोचना लिखते हैं। इस दृष्टि से पंत की 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की समीक्षाएँ महत्वपूर्ण हैं। अज्ञेय और मुक्तिबोध के प्रति 'नई कविता और अस्तित्त्ववाद' में व्यक्त उनके विचार भी इसी पूर्वग्रह का परिणाम कहे जा सकते हैं। हालांकि ध्वंसात्मक भंगिमा रखते हुए भी वे आलोचकों को चुनौती देते हैं कि जो बातें मुझसे छूट गई हों, उन्हें प्रकाश में लाइए और जो बातें मैंने गलत कहीं हों उनका तर्कपूर्ण खंडन करिए ('मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य' में व्यक्त विचार)। उनकी इस चुनौती को हिंदी आलोचना में नामवर सिंह और मैनेजर पांडे ने स्वीकार किया तथा छायावाद, नई कविता, मुक्तिबोध और साहित्य के इतिहास दर्शन से संबंधित विभिन्न विषयों पर एक समानांतर विचार प्रस्तुत किया।

समग्र रूप में रामविलास शर्मा के आलोचना कर्म के संबंध में कहा जा सकता है कि वे विस्तार और गहराई की दृष्टि से अप्रतिम हैं। अपने मौलिक चिंतन तथा लोकबद्ध मान्यताओं के कारण प्रगतिशील समीक्षा की धुरी बन जाते हैं। उनकी आक्रामक शैली कहीं-कहीं औदात्य का अतिक्रमण अवश्य करती है, किंतु जटिल से जटिल बात को सरलतम शब्दों में ओजपूर्ण प्रवाह के साथ कहने की उनकी क्षमता मौलिक है। उनसे विद्वानों की सहमति हो या न हो किंतु उनकी मान्यताओँ से जूझे बिना आलोचना का विकास संभव नहीं है।डॉ. रामविलास शर्मा (10 अक्टूबर, 1912- 30 मई, 2000) आधुनिक हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक, निबंधकार, विचारक एवं कवि थे। व्यवसाय से अंग्रेजी के प्रोफेसर, दिल से हिन्दी के प्रकांड पंडित और महान विचारक, ऋग्वेद और मार्क्स के अध्येता, कवि, आलोचक, इतिहासवेत्ता, भाषाविद, राजनीति-विशारद ये सब विशेषण उन पर समान रूप से लागू होते हैं।

जीवन परिचय

उन्नाव जिला के ऊँचगाँव सानी में जन्मे डॉ. रामविलास शर्मा ने लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम.ए. किया और वहीं अस्थाई रूप से अध्यापन

करने लगे। 1940 में वहीं से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। 1943 से आपने बलवंत राजपूत कालेज, आगरा में अंग्रेजी विभाग में अध्यापन किया और अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष रहे। 1971-74 तक कन्हैयालाल माणिक मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा में निदेशक पद पर रहे। 1974 में सेवानिवृत्त हुये।

डॉ. रामविलास शर्मा के साहित्यिक जीवन का आरंभ 1934 से होता है जब वह सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के संपर्क में आये। इसी वर्ष उन्होंने अपना प्रथम आलोचनात्मक लेख 'निरालाजी की कविता' लिखा जो चर्चित पत्रिका 'चाँद' में प्रकाशित हुआ। इसके बाद वे निरंतर सृजन की ओर उन्मुख रहे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद डॉ. रामविलास शर्मा ही एक ऐसे आलोचक के रूप में स्थापित होते हैं, जो भाषा, साहित्य और समाज को एक साथ रखकर मूल्यांकन करते हैं। उनकी आलोचना प्रक्रिया में केवल साहित्य ही नहीं होता, बल्कि वे समाज, अर्थ, राजनीति, इतिहास को एक साथ लेकर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। अन्य आलोचकों की तरह उन्होंने किसी रचनाकार का मूल्यांकन केवल लेखकीय कौशल को जाँचने के लिए नहीं किया है, बल्कि उनके मूल्यांकन की कसौटी यह होती है कि उस रचनाकार ने अपने समय के साथ कितना न्याय किया है।

प्रकाशित कृतियाँ

प्रेमचन्द (1941)।

भारतेन्दु युग (1943) परिवर्द्धित संस्करण 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा' (1975)।

निराला (1946)।

प्रेमचन्द और उनका युग (1952)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ (1985) (मूलत: 1953 में।)।

प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (1954)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना (1955)।

विराम चिह्न (1957)।

आस्था और सौन्दर्य (1961)।

निराला की साहित्य साधना-1 (जीवनी-1969)।

निराला की साहित्य साधना-2 (आलोचना -1972)।

निराला की साहित्य साधना-3 (पत्रचार संग्रह एवं बृहद् भूमिका-1976)।
महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण (1977)।
नयी कविता और अस्तित्त्ववाद (1978)।
परम्परा का मूल्यांकन (1981)।
भाषा, युगबोध और कविता (1981)।
कथा विवेचना और गद्यशिल्प (1982)।
मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य (1984)।
भाषा और समाज (1961)।
भारत की भाषा समस्या (1978, मूलत: 1965 में)।
भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (तीन खण्डों में-1979-81)।
सन् सत्तावन की राज्य क्रान्ति और मार्क्सवाद (1990, मूलत:1957 में)।
भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (दो खण्डों में-1982)।
स्वाधीनता संग्राम–बदलते परिप्रेक्ष्य (1992)।
मार्क्स, त्रोत्स्की और एशियाई समाज (1986)।
मार्क्स और पिछड़े हुए समाज (1986)।
भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद (1992)।
पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद (1994)।
भारतीय नवजागरण और यूरोप (1996)।
इतिहास दर्शन (1995)।
भारतीय साहित्य की भूमिका (1996, संगीत का इतिहास भी मूलत: इसी में है।)।
भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश (दो खण्डों में-1999)।
भारतीय सौन्दर्य-बोध और तुलसीदास (2001, अपूर्ण)।
गाँधी, आम्बेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ (2000)।
मेरे साक्षात्कार (1994)।
चार दिन (उपन्यास), 1936।
'तार सप्तक' में संकलित कविताएँ,1943।
महाराजा कठपुतली सिंह(प्रहसन), 1946।
पाप के पुजारी (नाटक), 1936।
बुद्ध वैराग्य तथा प्रारम्भिक कविताएँ, 1997।
अपनी धरती अपने लोग (आत्मजीवन, तीन खण्डों में-1996)।

आज के सवाल और मार्क्सवाद (2001)।

भाषा, साहित्य और जातीयता (2012)।

मित्र संवाद (1992, केदारनाथ अग्रवाल से पत्रव्यावहार)।

अत्र कुशलं तत्रस्तु (2004, अमृतलाल नागर से पत्रव्यावहार)।

पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अंतर्विरोध- थेल्स से मार्क्स तक (2001)

लोकजागरण और हिन्दी साहित्य

प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल (1986)।

रूप तरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि (1990, मूलत:1956)।

सदियों के सोये जाग उठे (कविता),1998।

इनमें से अनेक पुस्तकों के संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण बाद में प्रकाशित हुए हैं, उन्हें ही पढ़ना चाहिए। ये सभी पुस्तकें अब राजकमल, वाणी, किताबघर, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, साहित्य अकादेमी एवं साहित्य भंडार प्रकाशनों से प्रकाशित हैं।

ऐसे सामान्य पाठक जो प्रमुख चुनिन्दा अंशों को ही पढ़ना चाहें, उनके लिए सर्वोत्तम संकलन है 'संकलित निबन्ध' (सं.अजय तिवारी, नेशनल बुक ट्रस्ट)

शर्मा जी पर केन्द्रित विशिष्ट साहित्य

रामविलास शर्मा का महत्त्व लेखक- रविभूषण, प्रकाशक- राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2018

शर्मा जी पर केन्द्रित अनेक पत्रिकाओं के विशेषांक प्रकाशित होते रहे हैं, जिनमें उपलब्ध और विशेष पठनीय हैं -

रामविलास शर्मा - सं.-विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ('दस्तावेज' का विशेषांक, पुस्तक रूप में वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से,।

हिन्दी के प्रहरी–डॉ. रामविलास शर्मा - सं.-विश्वनाथ त्रिपाठी, अरुण प्रकाश ('वसुधा' का विशेषांक, पुस्तक रूप में वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से,।

युगपुरुष रामविलास शर्मा - सं.-जय नारायण बुधवार, प्रमिला बुधवार ('कल के लिए' का विशेषांक, पुस्तक रूप में स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली से,।

उद्‌भावना अंक-104, नवंबर-दिसंबर 2012, रामविलास शर्मा महाविशेषांक, अतिथि संपादक- प्रदीप सक्सेना (पुस्तक रूप में रामविलास शर्मा का ऐतिहासिक योगदान, संपा. प्रदीप सक्सेना, अनुराग प्रकाशन, नयी दिल्ली से, प्र. सं.-2013)।

समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-167 (मई-जून 2013)

समग्रता में विचार करने वाले दो अति महत्त्वपूर्ण/अवश्य पठनीय आलेख -

अपने-अपने रामविलास - प्रणय कृष्ण 'जनमत' 2002 में प्रकाशित, 2012 में पुनः प्रकाशित। प्रणय कृष्ण की पुस्तक 'शती स्मरण' (स्पॉट क्रिएटिव सर्विसेज, 43 बी, लिडिल रोड, जॉर्ज टाउन, इलाहाबाद से प्रकाशित) में संकलित।,

'मैं' और 'वे' के बीच रामविलास शर्मा का ज्ञानकांड - अभय कुमार दुबे ('तद्‌भव'-26, अक्टूबर 2012 में प्रकाशित। वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित अभय कुमार दुबे की पुस्तक 'हिंदी में हम' में हिंदी का ज्ञानकाण्ड शीर्षक से संकलित।)

हिंदी जाति की अवधारणा

हिंदी जाति की अवधारणा रामविलास शर्मा के जातीय चिंतन का केंद्रीय बिंदु है। भारतीय साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन तथा वैश्विक साहित्य से अन्तर्क्रिया के द्वारा रामविलास जी ने साहित्य के जातीय तत्त्वों की प्रगतिशील भूमिका की पहचान की है।

डॉ. रामविलास शर्मा और भारत का इतिहास

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद डॉ. रामविलास शर्मा ही एक ऐसे आलोचक के रूप में स्थापित होते हैं, जो भाषा, साहित्य और समाज को एक साथ रखकर मूल्यांकन करते हैं। उनकी आलोचना प्रक्रिया में केवल साहित्य ही नहीं होता, बल्कि वे समाज, अर्थ, राजनीति, इतिहास को एक साथ लेकर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। अन्य आलोचकों की तरह उन्होंने किसी रचनाकार का मूल्यांकन केवल लेखकीय कौशल को जाँचने के लिए नहीं किया है, बल्कि उनके मूल्यांकन की कसौटी यह होती है कि उस रचनाकार ने अपने समय के साथ कितना न्याय किया है।

इतिहास की समस्याओं से जूझना मानो उनकी पहली प्रतिज्ञा हो। वे भारतीय इतिहास की हर समस्या का निदान खोजने में जुटे रहे। उन्होंने जब यह कहा कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं, तब इसका विरोध हुआ था। उन्होंने कहा कि आर्य पश्चिम एशिया या किसी दूसरे स्थान से भारत में नहीं आए हैं, बल्कि सच यह है कि वे भारत से पश्चिम एशिया की ओर गए हैं। वे लिखते हैं – ''दूसरी सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व बड़े-बड़े जन अभियानों की सहस्त्राब्दी है।

इसी दौरान भारतीय आर्यों के दल इराक से लेकर तुर्की तक फैल जाते हैं। वे अपनी भाषा और संस्कृति की छाप सर्वत्र छोड़ते जाते हैं। पूँजीवादी इतिहासकारों ने उल्टी गंगा बहाई है, जो युग आर्यों के बहिर्गमन का है, उसे वे भारत में उनके प्रवेश का युग कहते हैं। इसके साथ ही वे यह प्रयास करते हैं कि पश्चिम एशिया के वर्तमान निवासियों की आँखों से उनकी प्राचीन संस्कृति का वह पक्ष ओझल रहे, जिसका संबंध भारत से है। सबसे पहले स्वयं भारतवासियों को यह संबंध समझना है, फिर उसे अपने पड़ोसियों को समझाना है।

भुखमरी, अशिक्षा, अंधविश्वास और नए-नए रोग फैलाने वाली वर्तमान समाज व्यवस्था को बदलना है। इसके लिए भारत और उसके पड़ोसियों का सम्मिलित प्रयास आवश्यक है। यह प्रयास जब भी हो, यह अनिवार्य है कि तब पड़ोसियों से हमारे वर्तमान संबंध बदलेंगे और उनके बदलने के साथ वे और हम अपने पुराने संबंधों को नए सिरे से पहचानेंगे। अतीत का वैज्ञानिक, वस्तुपरक विवेचन वर्तमान समाज के पुनर्गठन के प्रश्न से जुड़ा हुआ है।''

भारतीय संस्कृति की पश्चिम एशिया और यूरोप में व्यापकता पर जो शोधपरक कार्य रामविलासजी ने किया है, इस कार्य में उन्होंने नृतत्त्वशास्त्र, इतिहास, भाषाशास्त्र का सहारा लिया है। शब्दों की संरचना और उनकी उत्पत्ति का विश्लेषण कर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यों की भाषा का गहरा प्रभाव यूरोप और पश्चिम एशिया की भाषाओं पर है।

वे लिखते हैं – ''सन् 1786 में ग्रीक, लैटिन और संस्कृत के विद्वान विलियम जोंस ने कहा था, 'ग्रीक की अपेक्षा संस्कृत अधिक पूर्ण है। लेटिन की अपेक्षा अधिक समृद्ध है और दोनों में किसी की भी अपेक्षा अधिक सुचारू रूप से परिष्कृत है।' पर दोनों से क्रियामूलों और व्याकरण रूपों में उसका इतना गहरा संबंध है, जितना अकस्मात उत्पन्न नहीं हो सकता। यह संबंध सचमुच ही इतना

सुस्पष्ट है कि कोई भी भाषाशास्त्री इन तीनों की परीक्षा करने पर यह विश्वास किए बिना नहीं रह सकता कि वे एक ही स्रोत से जन्मे हैं, जो स्रोत शायद अब विद्यमान नहीं है।

इसके बाद एक स्रोत भाषा की शाखाओं के रूप में जर्मन, स्लाव, केल्त आदि भाषा मुद्राओं को मिलाकर एक विशाल इंडो यूरोपियन परिवार की धारणा प्रस्तुत की गई। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषा विज्ञान ने भारी प्रगति की है। अनेक नई-पुरानी भाषाओं के अपने विकास तथा पारस्परिक संबंधों की जानकारी के अलावा बहुत से देशों के प्राचीन इतिहास के बारे में जो धारणाएँ प्रचलित हैं, वे इसी ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की देन हैं। आरंभ में यूरोप के विद्वान मानते थे कि उनकी भाषाओं को जन्म देने वाली स्रोत भाषा का गहरा संबंध भारत से है। यह मान्यता मार्क्स के एक भारत संबंधी लेख में भी है।''

अँग्रेजों के प्रभुत्व से भारतीय जनता की मुक्ति की कामना करते हुए उन्होंने 1833 में लिखा था, "हम निश्चयपूर्वक, न्यूनाधिक सुदूर अवधि में उस महान और दिलचस्प देश को पुनर्जीवित होते देखने की आशा कर सकते हैं, जहाँ के सज्जन निवासी राजकुमार साल्तिकोव (रूसी लेखक) के शब्दों में इटैलियन लोगों से अधिक चतुर और कुशल हैं, जिनकी अधीनता भी एक शांत गरिमा से संतुलित रहती है, जिन्होंने अपने सहज आलस्य के बावजूद अँग्रेज अफसरों को अपनी वीरता से चकित कर दिया है, जिनका देश हमारी भाषाओं, हमारे धर्मों का उद्‌गम है और जहाँ प्राचीन जर्मन का स्वरूप जाति में, प्राचीन यूनान का स्वरूप ब्राह्मण में प्रतिबिंबित है।"

डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी दृष्टि से भारतीय संदर्भों का मूल्यांकन करते हैं, लेकिन वे इन मूल्यों पर स्वयं तो गौरव करते ही हैं, साथ ही अपने पाठकों को निरंतर बताते हैं कि भाषा और साहित्य तथा चिंतन की दृष्टि से भारत अत्यंत प्राचीन राष्ट्र है। वे अँग्रेजों द्वारा लिखवाए गए भारतीय इतिहास को एक षड्‌यंत्र मानते हैं।

उनका कहना है कि यदि भारत के इतिहास का सही-सही मूल्यांकन करना है तो हमें अपने प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करना होगा। अँग्रेजों ने जान-बूझकर भारतीय इतिहास को नष्ट किया है। ऐसा करके ही वे इस महान राष्ट्र पर राज कर सकते थे। भारत में व्याप्त जाति, धर्म के अलगाव का जितना गहरा प्रकटीकरण अँग्रेजों के आने के बाद होता है, उतना गहरा प्रभाव पहले के

इतिहास में मौजूद नहीं है। समाज को बाँटकर ही अँग्रेज इस महान राष्ट्र पर शासन कर सकते थे और उन्होंने वही किया भी है। सर्व प्रथम नवजागरण शब्द का प्रयोग इनके द्वारा ही 1977 में लिखे गये पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में हुआ।

सम्मान

1970–'निराला की साहित्य साधना' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार।

1988–शलाका सम्मान।

1990–भारत भारती पुरस्कार।

1991–'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' के लिए व्यास सम्मान।

1999–साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता सम्मान।

2000–शताब्दी सम्मान (11 लाख रुपये)।

पुरस्कारों में प्राप्त राशियों को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। उन राशियों को हिन्दी के विकास में लगाने को कहा।

शताब्दी वर्ष 2012-13

2012-2013 रामविलास शर्मा का जन्म-शताब्दी वर्ष था। रामविलास शर्मा के ऊपर अपना व्याख्यान देते हुये वीर भारत तलवार ने कहा था कि रामविलास शर्मा की मृत्यु ने हिन्दी मीडिया को झकझोर कर रख दिया था। वे कहते हैं-

रामविलास जी की मृत्यु के बाद जो हिन्दी अखबार प्रकाशित हुए, उन सबों ने मुख्य पृष्ठ पर उनकी मृत्यु के समाचार को प्रमुखता से जगह दी। बड़ी-बड़ी सुर्खियाँ लगाईं। ऐसा कि 11 सितंबर को वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर जो हमला हुआ था, उसकी भी सुर्खियां ऐसी न थी। हिन्दी के किसी अन्य साहित्यकार को यह सम्मान प्राप्त नहीं है। मुझे नहीं लगता कि पूरे हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु की मृत्यु के बाद किसी और की मृत्यु के समाचार को इतनी प्रमुखता मिली होगी, जितनी रामविलास जी की।

इससे हम रामविलास शर्मा की लोकप्रियता और उनके जाने से हुए क्षति दोनों का अनुमान लगा सकते हैं।

8

द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना

हिंदी आलोचना एवं समकालीन विमर्श

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी आलोचना के प्रथम आधार से स्तम्भ हैं। उन्होंने हिन्दी आलोचना को परम्परा से हटकर एक नवीन सांस्कृतिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। जिसका सूत्रपात भारतेन्दु-युग में श्री बालकृष्ण भट्ट ने किया था। उनका एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध सन् 1920 में 'कविता और भविष्य' निकला। जिसमें धूल भरे किसान और मैल मजदूर की हिमायत करते हैं तथा असाधारण के स्थान पर साधारण को प्रतिष्ठित करने की बात करते हैं। उन्होंने कहा था- भविष्य कवि का लक्षण इधर ही होगा। अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखानों से निकले हुए मैल मजदूर को अपने कार्यों का नायक बनाना नहीं चाहता था, वह राज-स्तुति, वीर-गाथा अथवा प्रकृति वर्णन में ही लीन रहता था, परन्तु अब वह क्षुद्रो की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत् का स्वरूप सबको विदित होगा।

द्विवेदी जी साहित्य को उपयोगिता की कसौटी पर आंकते और उसे 'ज्ञानराशी का संचित कोष' मानते थे। द्विवेदी युग ने ज्ञान की साधना पर विशेष बल दिया। इस युग के लेखक प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान की खोज और पश्चिम के नये आलोक से अपने देशवासियों को परिचित कराना चाहते थे। द्विवेदी युग ने हिंदी को जितने विद्वान दिए, आधुनिक भारत के अन्य किसी युग

ने नहीं। पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पं. सुधाकर द्विवेदी आदि।

वे प्राचीन साहित्य के क्षयिष्णु अंश को हानिकर समझते, नायिका भेद आदि पर लिखित पुस्तकों के विरोधी थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के कई लब्धप्रतिष्ठ कवियों की समालोचना की। उन्होंने विक्रमांकदेव चरित्र, नैषध चरित चर्चा तथा कालिदास की निरंकुशता जैसे निबंध लिखे। ये निबन्ध परिचयात्मक होने के साथ कृतियों के गुण-दोषों पर भी प्रकाश डालते हैं। आचार्य द्विवेदी यथार्थ को काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। यथार्थ से उनका तात्पर्य कवि द्वारा अनुभूत सत्य से है। उनका मत है कवि को अपने ऊपर किसी दबाव में आकर कोई पाबंदी नहीं लगनी चाहिए।

'कवि कर्त्तव्य' नामक निबन्ध से भी द्विवेदी के कविता सम्बन्धी विचारों का पता चलता है। उनका मत है कि गंध और पध की भाषा पृथक-पृथक नहीं होनी चाहिए। साहित्य उसी भाषा में रचा जाना चाहिए, जिसे सभ्य समाज व्यावहार में लाता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के विकास को देखते हुए इस बात की भविष्यवाणी कर दी थी कि 'यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिन्दी-भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य ही ले लेगी... बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है।'

1901 ई. की सरस्वती में द्विवेदी ने कवियों का कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए लिखा' आजकल हिन्दी संक्रान्ति की अवस्था में है। हिन्दी कवि का कर्त्तव्य यह है कि वह लोगों की रुचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नई कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाए।'

तात्पर्य यह है कि आलोचक हिन्दी के मूल्याकंन के आधार तत्त्व व्यापक है। प्राचीनता से उचित का ग्रहण और अनुचित का त्याग, नवीनता से विवेकपूर्ण स्वीकृति, शास्त्र के स्थितिशील तत्त्वों की उपेक्षा समाज संस्कार को महत्त्व, उपयोगिता आदि। उन्होंने 'नागरी प्रचारीणी सभा' को जो पुस्तकें दान दी है, उनमें 1198 पुस्तकें अंग्रेजी की है। हर्वर्ट स्पेंसर की पुस्तक 'एज्यूकेशन' और जॉन स्टुअर्टमिल की पुस्तक 'आन लिवर्टी' का हिंदी अनुवाद किया, ऐसी स्थिति में उन पर पाश्चात्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

द्विवेदी युग के अन्य प्रसिद्ध आलोचक मिश्रबन्धु, पं. पद्मसिंह शर्मा तथा पं. कृष्णबिहारी मिश्र हैं। उन्होंने हिन्दी 'नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रंथ लिखा। इसमें हिंदी के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में से चुनकर श्रेष्ठ कवियों की समीक्षा की गई। 'नवरत्न' से ही प्रकट है उनकी संख्या नौ है। किन नौ को चुना जाय यह भी समस्या थी' पहले हम मतिराम को भूषण से बहुत अच्छा कवि समझते थे, पर पीछे से इस विचार में शंका होने लगी। उस समय हमने भूषण और मतिराम के एक-एक छन्द का मुकाबला किया। तब जान पड़ा कि मतिराम के प्रायः 10 या 12 कवित तो ऐसे रूचिकर हैं कि उनका सामना भूषण का कोई कविता नहीं कर सकता और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित ठहर नहीं सकते, इसी प्रकार भूषण को केशवदास से मिलाया तो भी भूषण की कविता में विशेष चमत्कार देख पड़ा.... तब हमने इन्हीं बिहारीलाल से मिलाया, पर उन कविरत्न के सम्मुख इनके पद ठहर न सके। यह तुलना केवल पध पढ़कर ही नहीं की गई, वरन् प्रत्येक पद को नम्बर देकर, मनोहर पदों की संख्या और प्रति सैकड़े उनका औसत लगाकर सब बातों पर कई दिन तक ध्यानपूर्वक विचार करने के उपरांत की गई।' कवि दस हो गए थे, क्योंकि 'कबीरदास' को भी नवरत्न में लेना ठीक जंचा, किन्तु किसी को निकाल उचित न जानकर भूषण और मतिराम को त्रिपाठी बन्धु कहकर नवरत्न नाम सार्थक रखा। उसमें कवियों का क्रम इस प्रकार है- तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, भूषण और मतिराम, केशवदास, कबीर, चन्दरबदाई और भारतेंदु।

कालान्तर में जो प्रवृत्ति तुलनात्मक आलोचना के नाम से विख्यात हुई, हिन्दी के नवरत्नों का चयन ही इन्होंने कवियों की परस्पर तुलना के द्वारा किया था। मिश्रबन्धु मन से देव को हिन्दी का श्रेष्ठ कवि मानते हैं, किन्तु तुलसी-सूर के होते ऐसा कहना भी नहीं चाहते। आज का आलोचक किसी कवि को किसी अन्य कवि से बड़ा-छोटा कहकर नहीं आंक सकता। वस्तुतः उनकी दृष्टि रीतिकालीन संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाई। तुलसी और सूर माहत्मा थे, बिहारी नहीं थे, सो झगड़ा बिहारी पर खड़ा हुआ। मिश्रबन्धुओं के देव के सामने लाल भगवानदीन और पं. पद्मसिंह शर्मा बिहारी को लाए।

पं. कृष्णबिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' के उत्तर में लाल भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखा। 'एक बिहारी पर चार-चार बिहारियों- मिश्रबन्धु श्यामबिहारी, गणेश बिहारी, शुकदेव बिहारी और कृष्णबिहारी का दावा देखकर बेचारा हिन्दी साहित्य संसार घबरा गया है। देव धन-लोलुपता के कारण द्वार-द्वार

और देश-देश में मारे फिरते थे।... देव को तो हम भिक्षुक कवि कह सकते हैं, बिहारी राजकवि और कविराज थे। पद्मसिंह शर्मा ने सतसई के उद्भव और विकास पर डालते हुए मुक्तकों को कविता शक्ति की पराकाष्ठा माना है। मिश्रबन्धु, लाल भगवानदीन और पद्मसिंह शर्मा- इनमें विवाद चाहे जितना अधिक हुआ हो, किन्तु ये तीनों रीतिकालीन संस्कारों से युक्त आलोचक हैं। बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ने यद्यपि आलोचना ग्रन्थ न लिखकर बिहारी की टीका लिखा है, किन्तु अर्थ-प्रकाशन की दृष्टि से वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण भारतेन्दु-युग है एवं दूसरा चरण द्विवेदी-युग। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद् होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने सरस्वती का अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनंदन किया था, उनके सम्मान में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं, ''मुझे आचार्य की पदवीं मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ।. ...शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरजः कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी

विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया ?'' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मैट्रिक तक की पढ़ाई की थी। तत्पश्चात् वे रेलवे में नौकरी करने लगे थे।

उसी समय इन्होंने अपने लिए सिद्धान्त निश्चित किए–वक्त की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान–वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। द्विवेदी जी ने लिखा है, ''पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेट–लेयर तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह की एक दबार मुझे छोड़कर तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी।'' द्विवेदी जी 15 रुपये मासिक पर रेलवे में बहाल हुए थे और जब उन्होंने 1904 ई. में नौकरी छोड़ी, उस वक्त 150 रुपये मूल वेतन एवं 50 रुपये भत्ता मिलता था, यानी कुल 200 रुपये।

उस जमाने में यह एक बहुत बड़ी राशि थी। वे 18 वर्ष की उम्र में रेलवे में बहाल हुए थे। उनका जन्म 1864 ई. में हुआ था और 1882 ई, से उन्होंने नौकरी प्रारंभ की थी। नौकरी करते हुए वे अजमेर, बंबई, नागपुर, होशंगाबाद, इटारसी, जबलपुर एवं झाँसी शहरों में रहे। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते हुए पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का अभ्यास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 1895 ई. में श्रीमहिम्नस्तोत्र की रचना की, जो पुष्पदंत के संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर है। द्विवेदी जी ने सभी पद्यरचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में ही किया है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है, ''इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो सांप्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान है, मैं परम कृतज्ञ हूँ।'' अपने 'आत्म–निवेदन' में उन्होंने लिखा है, ''बचपन से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो

वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा।

मेरा यह रोग बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों बना रहा।'' 1889 से 1892 ई. तक द्विवेदी जी की इस प्रकार की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई-विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी, देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि। 1896 ई. में इन्होंने लॉर्ड बेकन के निबंधों का हिन्दी में भावार्थ मूलक रुपांतर किया, जो बेकन-विचार-रत्नावली पुस्तक में संकलित हैं। 1898 ई. में इन्होंने हिन्दी कालिदास की आलोचना लिखी, जो हिन्दी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। 1988 ई. में श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर इन्होंने नैषध-चरित-चर्चा नामक आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक पुस्तक लिखी। यह सिलसिला जो शुरू हुआ, वह 1930-31 ई. तक चला और द्विवेदी जी की कुल पच्चासी पुस्तकें प्रकाशित हुई।

जनवरी, 1903 ई. से दिसंबर, 1920 ई. तक इन्होंने सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का संपादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था, इसीलिए इस काल को हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। अपने प्रकांड पांडित्य के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाने लगा। उनके व्यक्तित्त्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है, ''उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ।'' द्विवेदी जी का मानना था कि 'ज्ञान-राशि' के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' द्विवेदी जी स्वयं तो एक 'महान ज्ञान-राशि' थे ही उनका संपूर्ण वाङ्मय भी संचित ज्ञानराशि है, जिससे होकर गुजरना अपनी जातीय परंपरा को आत्मसात करते हुए विश्वचिन्तन के समक्ष भी होना है। डॉ. रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, ''द्विवेदी जी ने अपने साहित्य जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह संपत्तिशास्त्र है।.....अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके, जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं।

इसके साथ उन्होंने राजनीति विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीति घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और

अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिन्तन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रवेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।''

ऐसे महान ज्ञान-राशि के पुंज थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। किन्तु रामविलास शर्मा के पूर्व जितने भी आलोचक हुए, उन्होंने द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन तो नहीं ही किया, अपितु उनका अवमूल्यन ही किया। इन महान आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में द्विवेदी जी पर जो टिप्पणी की है, उस पर एक नजर डालें, ''द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में सरस्वती के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उससे बहुत-कुछ समझ जाएँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही है। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्‌भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं।

स्थायी निबंधों की श्रेणी में चार ही लेख, जैसे– 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं, पर ये लेखनकाल या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं, पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं।'' इसी प्रसंग में रामचन्द्र शुक्ल आगे लिखते हैं, ''कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेजी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे, पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखंड के लिए हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने में ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

अब आप देखें कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन के प्रति रामचंद्र शुक्ल की ये टिप्पणी पढ़कर हिन्दी का कोई भी पाठक उससे विरक्त होगा या आसक्त। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी के विद्यार्थी साठ-पैंसठ वर्षों से आप्त वचनों की तरह याद करते आ रहे हैं। ऐसे में मूल पाठ से उनके आप्त वाक्यों का यदि मिलान कर परीक्षण न किया जाए, तो अनर्थ होगा ही। रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक, सबसे बड़े साहित्येतिहास-लेखक हैं। इसी इतिहास में वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदानों को सिर्फ भाषा-परिष्कारकर्त्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्द हैं, ''यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है।

यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी, उन्होंने अपना सुधार किया।'' दरअसल शुक्ल जी जिस आलोचना-पद्धति का सहारा लेकर उक्त बातें लिख रहे थे, उसे अंग्रेजी में और हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं और इसका सबसे बड़ा दोष यह हैं कि इसके आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों का ध्यान ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन से हटाकर अधिकांशत: कलापक्ष तक ही सीमित कर दिया है। कलापक्ष की ओर ध्यान देने वाले आलोचकों का कहना हैं कि युगीन परिस्थितियाँ, युगीन चेतना और युग सत्य निरंतर परिवर्तनशील हैं अतएव इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण इन्हें साहित्य का स्थायी मानदंड स्वीकार किया जा सकता। लेकिन इसी के साथ यह भी सत्य है कि ऐसी दशा में निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

इसका मुख्य कारण है ऐसे आलोचक का रचनाकार और रचना पर फतवे जारी करना। यही कारण है कि रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के विचारों को, उनके संचित ज्ञान-राशि पर ध्यान नहीं दिया और उनकी भाषा पर विचार किया। 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर'-यह अभिव्यक्ति की प्रणाली पर बात की जा रही है, जो निस्संदेह भाषा है। जब द्विवेदी जी मूर्ख या मोटे दिमाग वालों के लिए लिखते थे और मोटी तरह से लिखते थे तो उन्होंने भाषा परिष्कार कैसे किया ? जिस लेखक को भाषा की सतही समझ होगी, वह दूसरे लेखकों की

भाषा को दुरुस्त कैसे करेगा ? पुनः रामचन्द्र शुक्ल की बातों पर विचार करें–महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शाश्वत साहित्य या स्थायी साहित्य नहीं लिखा। उनका महत्त्व भाषा–सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है–मोटी अक्लवालों के लिए है। इस तरह की बातों से आचार्य शुक्ल का इतिहास भरा हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी–नवरत्न की समीक्षा लिखते हुए लिखा है, ''इस तरह की बातें किसी इतिहास कार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास–लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।''

सन् 1933 ई. में आचार्य द्विवेदी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। इसकी प्रस्तावना श्यामसुंदर दास एवं रायकृष्णदास के नाम से प्रकाशित हुई, किन्तु यह लिखी गई नंददुलारे वाजपेयी द्वारा। इसलिए यह 1940 ई. में प्रकाशित वाजपेयी जी की पुस्तक हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी में संकलित है। इसमें यह विचार किया गया है कि स्थायी या शाश्वत साहित्य में द्विवेदी जी का साहित्य परिगणित हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिकोण से महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित संपूर्ण साहित्य को अयोग्य ठहरा दिया गया। सिर्फ उनके द्वारा संपादित सरस्वती के अंकों को ही महत्त्व दिया गया।

9

हजारी प्रसाद द्विवेदी

हजारी प्रसाद द्विवेदी (19 अगस्त 1907 - 19 मई 1979) हिन्दी निबन्धकार, आलोचक और उपन्यासकार थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् 1964 तदनुसार 19 अगस्त 1907 ई. को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। इनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता पं.अनमोल द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। द्विवेदी जी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था।

द्विवेदी जी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के स्कूल में ही हुई। उन्होंने 1920 में बसरिकापुर के मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद उन्होंने गाँव के निकट ही पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया। सन् 1923 में वे विद्याध्ययन के लिए काशी आये। वहाँ रणवीर संस्कृत पाठशाला, कमच्छा से प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। 1927 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष भगवती देवी से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। 1929 में उन्होंने इंटरमीडिएट और संस्कृत साहित्य में शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1930 में ज्योतिष विषय में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। शास्त्री तथा आचार्य दोनों ही परीक्षाओं में उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। 8 नवम्बर 1930 से

द्विवेदीजी ने शांति निकेतन में हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया। वहाँ गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रभाव से साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा अपना स्वतंत्र लेखन भी व्यवस्थित रूप से आरंभ किया। बीस वर्षों तक शांतिनिकेतन में अध्यापन के उपरान्त द्विवेदीजी ने जुलाई 1950 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। 1957 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किये गये।

प्रतिद्वन्द्वियों के विरोध के चलते मई 1960 में द्विवेदीजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिये गये। जुलाई 1960 से पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। अक्टूबर 1967 में पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष होकर लौटे। मार्च 1968 में विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर उनकी नियुक्ति हुई और 25 फरवरी 1970 को इस पद से मुक्त हुए। कुछ समय के लिए 'हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' योजना के निदेशक भी बने। कालान्तर में उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अध्यक्ष तथा 1972 से आजीवन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के उपाध्यक्ष पद पर रहे। 1973 में 'आलोक पर्व' निबन्ध संग्रह के लिए उन्हें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। 4 फरवरी 1979 को पक्षाघात के शिकार हुए और 19 मई 1979 को ब्रेन ट्यूमर से दिल्ली में उनका निधन हो गया।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्त्व बड़ा प्रभावशाली और उनका स्वभाव बड़ा सरल और उदार था। वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बाङ्ला भाषाओं के विद्वान थे। भक्तिकालीन साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि देकर उनका विशेष सम्मान किया था। हिन्दी साहित्य के लिए उनके अवदान अविस्मरणीय है।

रचनाएँ

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं–

1. आलोचनात्मक।
2. सूर साहित्य (1936)।
3. हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940)।
4. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (1952)।

5. कबीर (1942)।
6. नाथ संप्रदाय (1950)।
7. हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1952)।
8. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार (1949)।
9. साहित्य का मर्म (1949)।
10. मेघदूतः एक पुरानी कहानी (1957)।
11. लालित्य तत्त्व (1962)।
12. साहित्य सहचर (1965)।
13. कालिदास की लालित्य योजना (1965)।
14. मध्यकालीन बोध का स्वरूप (1970)।
15. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास (1952)।
16. मृत्युंजय रवीन्द्र (1970)।
17. सहज साधना (1963)।
18. निबंध संग्रह।
19. अशोक के फूल (1948)।
20. कल्पलता (1951)।
21. विचार और वितर्क (1954)।
22. विचार-प्रवाह (1959)।
23. कुटज (1964)।
24. विश के दन्त।
25. उपन्यास।
26. बाणभट्‌ट की आत्मकथा (1946)।
27. चारु चंद्रलेख(1963)।
28. पुनर्नवा(1973)।
29. अनामदास का पोथा(1976)।
30. अन्य।
31. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (1957)।
32. संदेश रासक (1960)।
33. सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण (1979)।
34. महापुरुषों का स्ष्मरण (1977)।

ग्रन्थावली एवं ऐतिहासिक व्याकरण

अगस्त 1981 ई. में आचार्य द्विवेदी की उपलब्ध सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन 11 खंडों में हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण 2 वर्ष से भी कम समय में समाप्त हो गया। द्वितीय संशोधित परिवर्धित संस्करण 1998 ई. में प्रकाशित हुआ।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण के क्षेत्र में भी काम किया था। उन्होंने 'हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण' के नाम से चार खण्डों में विशाल व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी पांडुलिपि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को सौंपी गयी थी, परंतु लंबे समय तक वहाँ से इसका प्रकाशन नहीं हुआ और अंततः वहाँ से पांडुलिपियाँ ही गायब हो गयीं। द्विवेदी जी के पुत्र मुकुन्द द्विवेदी को उक्त वृहत् ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रतिकापी मिली और सन् 2011 ई. में इस विशाल ग्रंथ का पहला खण्ड हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी ग्रंथ को यथावत् ग्रन्थावली के 12वें खंड के रूप में भी सम्मिलित करके अब 12 खण्डों में 'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली' का प्रकाशन हो रहा है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विषयक साहित्य

शांतिनिकेतन से शिवालिक - सं.-शिवप्रसाद सिंह (1967, द्वितीय संशोधित-परिवर्धित संस्करण-1988, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली से, नवीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली से,

दूसरी परम्परा की खोज - नामवर सिंह (1982, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से,

हजारीप्रसाद द्विवेदी (विनिबन्ध)- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (1989, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली से,

साहित्यकार और चिन्तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - डॉ.0 राममूर्ति त्रिपाठी (1997, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से,

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व - सं.- डॉ.0 व्यास मणि त्रिपाठी (2008, हिंदी साहित्य कला परिषद, पोर्टब्लेयर, अंडमान से,

व्योमकेश दरवेश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण, (जीवनी एवं आलोचना)- विश्वनाथ त्रिपाठी (2011, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से,

हजारीप्रसाद द्विवेदी–समग्र पुनरावलोकन - चौथीराम यादव (2012, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से, हरियाणा साहित्य अकादमी से पूर्व प्रकाशित 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य' का संशोधित-परिवर्धित संस्करण,

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जय-यात्र - नामवर सिंह (आचार्य द्विवेदी पर नामवर जी द्वारा लिखित समस्त सामग्री का एकत्र संकलनय राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से,

रचनात्मक वैशिष्ट्य

वर्ण्य विषय

द्विवेदी जी के निबंधों के विषय भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य विविध धर्मों और संप्रदायों का विवेचन आदि है। वर्गीकरण की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं - विचारात्मक और आलोचनात्मक। विचारात्मक निबंधों की दो श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के निबंधों में दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के निबंध सामाजिक जीवन संबंधी होते हैं। आलोचनात्मक निबंध भी दो श्रेणियों में बांटें जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबंध हैं, जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है और द्वितीय श्रेणी में वे निबंध आते हैं, जिनमें साहित्यकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार हुआ है। द्विवेदी जी के इन निबंधों में विचारों की गहनता, निरीक्षण की नवीनता और विश्लेषण की सूक्ष्मता रहती है।

भाषा

द्विवेदी जी की भाषा परिमार्जित खड़ी बोली है। उन्होंने भाव और विषय के अनुसार भाषा का चयनित प्रयोग किया है। उनकी भाषा के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं - (1) प्राँजल व्यावहारिक भाषा, (2) संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय भाषा। प्रथम रूप द्विवेदी जी के सामान्य निबंधों में मिलता है। इस प्रकार की भाषा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी समावेश हुआ है। द्वितीय शैली उपन्यासों और सैद्धांतिक आलोचना के क्रम में परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी की विषय प्रतिपादन की शैली अध्यापकीय है। शास्त्रीय भाषा रचने के दौरान भी प्रवाह खण्डित नहीं होता।

शैली

द्विवेदी जी की रचनाओं में उनकी शैली के निम्नलिखित रूप मिलते हैं–

(1) गवेषणात्मक शैली द्विवेदी जी के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबंध इस शैली में लिखे गए हैं। यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली है। इस शैली की भाषा संस्कृत प्रधान और अधिक प्रांजल है। वाक्य कुछ बड़े-बड़े हैं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए - लोक और शास्त्र का समन्वय, ग्राहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय,निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।

(2) वर्णनात्मक शैली द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली अत्यंत स्वाभाविक एवं रोचक है। इस शैली में हिंदी के शब्दों की प्रधानता है, साथ ही संस्कृत के तत्सम और उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हैं।

(3) व्यंग्यात्मक शैली द्विवेदी जी के निबंधों में व्यंग्यात्मक शैली का बहुत ही सफल और सुंदर प्रयोग हुआ है। इस शैली में भाषा चलती हुई तथा उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(4) व्यास शैली द्विवेदी जी ने जहां अपने विषय को विस्तारपूर्वक समझाया है, वहां उन्होंने व्यास शैली को अपनाया है। इस शैली के अंतर्गत वे विषय का प्रतिपादन व्याख्यात्मक ढंग से करते हैं और अंत में उसका सार दे देते हैं।

महत्त्वपूर्ण कार्य

द्विवेदी जी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक हैं। उन्होंने सूर, कबीर, तुलसी आदि पर जो विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं, वे हिंदी में पहले नहीं लिखी गई। उनका निबंध-साहित्य हिंदी की स्थाई निधि है। उनकी समस्त कृतियों पर उनके गहन विचारों और मौलिक चिंतन की छाप है। विश्व-भारती आदि के द्वारा द्विवेदी जी ने संपादन के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

मानवतावाद और द्विवेदी जी

आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य में मानवता का परिशीलन सर्वत्र दिखाई देता है। उनके निबंध तथा उपन्यासों में यह दृष्टि विशेष रूप से प्रतीत होती है।

सम्मान

हजारी प्रसाद द्विवेदी को साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन 1957 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक व्यक्तित्त्व बहुआयामी है। वे जन-चेतना की दृष्टि से साहित्येतिहास के शोधकर्ता एवं व्याख्याता, मर्मी विचारक, उपन्यासकार, ललित निबन्धकार, सम्पादक तथा एक बहुअधीत एवं बहुश्रुत आचार्य के रूप में मान्य है। द्विवेदीजी ने लेखन यद्यपि शुक्लजी के जीवन-काल में ही प्रारम्भ कर दिया था। 'सूर-साहित्य' द्विवेदीजी की प्रथम रचना है जिसका प्रकाशन 1930 के आस-पास हुई। इस रचना के प्रथम दो अध्याय- राधाकृष्ण का विकास: स्त्री-पूजा और उसका वैष्णव रूप-निश्चित रूप से सूचना-प्रधान और शोधपरक हैं। प्रथम अध्याय में द्विवेदीजी ने तथ्थाधार प्रस्तुत करते हुए बेबर, ग्रियर्सन, केनेडी और भण्डारकर जैसे विद्वानों के इस मत का खण्डन किया है कि 'बाल कृष्ण की कथा, ईसा मसीह की कथा का भारतीय रूप हैं। दूसरे अध्याय में उन्होंने तन्त्रमतवाद के उद्‌भव का कारण, उसमें स्त्री का महत्व तथा वैष्णव मत का उससे पार्थक्य दिखाया है।

शुक्लजी के देहान्त उपरान्त हिन्दी-साहित्य की भूमिका (1940) के प्रकाशन के साथ द्विवेदीजी के साहित्यिक व्यक्तित्त्व को व्यापक स्वीकृति मिली। उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में शुक्लजी की कई साहित्येतिहास सम्बन्धी धारणाओं से मतभेद प्रकट किये। शुक्लजी और द्विवेदीजी दोनों शुरू में ही जनसमुदाय की बाते करते है, लेकिन इतिहास-लेखन की पद्धति में अन्तर हैं। शुक्लजी यद्यपि साहित्य को जनता की चित-वृत्ति का प्रतिबिम्ब मानते हैं। किन्तु इतिहास लिखते समय उन्होंने साहित्य का स्वरूप का अध्ययन शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर किया हैं, जबकि द्विवेदीजी आदिकालीन साहित्य का अध्ययन कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों के द्वारा करना उचित समझते हैं।

अत: द्विवेदीजी ने मुख्यत: चार बातों पर बल दिया–

(1) हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से सम्बन्ध करके देखा जाय।
(2) हिन्दी-साहित्य के माध्यम से व्यक्त चिन्ताधारा को भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास के रूप में स्वीकार किया जाय।
(3) हिन्दी-साहित्य को ठीक से समझने के लिए मात्र हिन्दी ग्रंथों पर निर्भर न रहकर जैन और बौध्य, अपभ्रंश साहित्य, कश्मीर के शैवों तथा दक्षिण और पूर्व के तांत्रिकों का साहित्य, नाथ योगियों का साहित्य, वैष्णव आगम, पुराण, निबन्ध-ग्रंथ तथा लौकिक कथा साहित्य यह सब कुछ देखा-परखा जाय।
(4) साहित्य के इतिहास को जनचेतना के इतिहास के रूप में व्याख्यायित किया जाय।

एक वर्ष बाद (1941 ई.) में द्विवेदीजी की परम प्रसिद्ध पुस्तक 'कबीर' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के माध्यम से द्विवेदीजी का समीक्षक रूप उभर कर सामने आया। कबीर के पंक्तियां-

अंखड़ियां झाई परी पन्थ निहारी निहारी,
जीभड़ियां छाला पड्या नाम पुकारि पुकारि।

शुक्लजी के अनुसार यह जिज्ञासा सच्ची रहस्य भावना का आधार है। कबीरदास ने अपने भाव जिस अज्ञात प्रियतम को निर्वेदित किए हैं, वह मानव-चेतना द्वारा संकेतित हैं। शुक्लजी कबीर में सहृदयता तो कहीं पाते ही नहीं, प्रशंसा भी करते हैं तो यह कहकर कि कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार हैं। पं. रामचन्द्र शुक्ल का विचार था कि कबीर मूर्तिपूजा का खण्डन 'मुसलमानी' जोश के साथ करते थे। द्विवेदीजी का मानना हैं कि - कबीर की जाति, निर्गुण साधकों की परम्परा, इस्लाम का उन पर प्रभाव, उनकी योगपरक उलटवासियों की व्याख्या, बाह्मचार का खण्डन आदि यह सब कबीर ने पूर्ववर्ती साधकों से ग्रहण किया था। जाति-भेद और ऊंच-नीच तथा बाह्य कर्मकाण्ड पर प्रहार करने की इस देश में बहुत पुरानी परम्परा हैं। इसलिए कबीर ने जीवन काशी में बिताया और मृत्यु के समय मगहर में जाकर अपने शरीर का त्याग किया, शायद वे इस प्रवाद और अन्धविश्वास को तोड़ने के लिए ही अन्तकाल में मगहर गए होंगें। यह बात द्विवेदीजी ने समझाई कि कवि की रचना उसके व्यक्तित्त्व से और उसका व्यक्तित्त्व अपने देशकाल की उपज होता है तो निश्चित है कि प्रत्येक रचना पर अपने विशिष्ट काल की विशेता की छाप रहती है और उसे देश, काल एवं परिवेश से अलग करके नहीं परखा जा

सकता। यानी कालिदास एक खास जाति और खास काल में ही हो सकते थे। एस्किमों जाति के बच्चे को चाहे जितनी भी संस्कृत रटा दीजिए वह कालिदास नहीं बन सकता। अत: उनका विचार है कि 'किसी रचना का सम्पूर्ण आनन्द पाने के लिए रचियता के साथ हमारा घनिष्ठ परिचय और सहानुभूति मनुष्यता के नाते भी आवश्यक है।'

इसके बाद उनका हिन्दी-साहित्य का आदिकाल (1952) हिन्दी के आरम्भिक सहित्य सम्बन्धी उलझनों का समाधान प्रस्तुत करने वाला इतिहास ग्रंथ है। शुक्लजी का विचार था कि भक्ति की भावना हिन्दी-भाषी क्षेत्र में मुसलमानों से पराजय के कारण पैदा हुई। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था। लेकिन भक्ति-पूर्व धर्मसाधनाओं का विश्लेषण करनेवाले द्विवेदीजी ने देखा कि यदी मुसलमान न आए होते तो भी हिन्दी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है। द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य के उद्‌भव-काल के पूर्व जाकर उसकी प्रवृत्तियों और उनके स्वाभाविक विकास को देखा है। उनका मत है कि हिन्दी साहित्य निराशा और पराजय मनोवृत्ति का साहित्य नहीं है। इस क्षेत्र की जातीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास हमें साहित्य में मिलता है।

मनुष्य को साहित्य को केन्द्र में प्रतिष्ठित करने के कारण ही आचार्य द्विवेदी आलोचना की समग्र और सन्तुलित दृष्टि के निर्माण पर बल देते हैं। वे साहित्य को सामाजिक सन्दर्भों में देखने और परखने का आग्रह करते हैं। सामाजिकता का यह आग्रह ही उन्हें 'मानवतावादी' बनाता है। वे जीवन्त मनुष्य और उसके समूह समाज को मनुष्य की सारी साधनाओं का केन्द्र और लक्ष्य मानते हैं। साहित्य भी उन्हीं रेखाओं में से एक है, जो संस्कृति का चित्र उभारते हैं। वे कहते हैं- साहित्य को महान् बनाने के मूल में साहित्यकार का महान् संकल्प होता है। 'कबीर' उन्हें इसलिए प्रिय हैं उन्होंने सारे भेद-प्रभेदों से ऊपर उठकर मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा पर बल दिया हैं। सूरदिस ने राग-चेतना और कालिदास ने अपनी अनुपम नाटय् कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' मनुष्य और प्रकृति के साथ एकसूत्रता का विधान करती हैं और विश्वव्यापी भाव-चेतना के साथ व्यक्ति की भाव-चेतना का तादात्मय स्थापित करती है। द्विवेदीजी इसी विकास-यात्रा को मनुष्य की 'जय यात्रा' कहते हैं। यही कारण है कि द्विवेदीजी की गणना हिन्दी के प्रगतिशील आलोचकों में की जा सकती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आलोचना

यदि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है तो मनुष्य के समान साहित्य भी स्थिर नहीं, बल्कि गतिशील है। यदि मनुष्य की कोई स्थिर परिभाषा नहीं हो सकती तो साहित्य की ही क्यों हो? आकस्मिक नहीं है कि द्विवेदीजी ने अन्य आलोचकों की तरह 'कविता क्या है' अथवा 'साहित्य क्या है' जैसा लेख कभी न लिखा। साहित्य यदि तैयार माल नहीं है तो साहित्य की कोई तैयार परिभाषा भी नहीं हो सकती। साहित्य इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक अवधारणा है, इसलिए साहित्य के बारे में यह कहा गया है कि वह इतिहास में पलता है। ..... वस्तुतः द्विवेदी जी की अलोचना में व्याख्या की भूमिका प्रधान नहीं है, प्रधान भूमिका है उद्धरणों के चयन की। प्रसंग के अनुकूल वे ऐसे उद्धरण चुनकर लाते हैं कि किसी अतिरिक्त युक्ति की आवश्यकता रह नहीं जाती। इस कला के क्षेत्र में वे अप्रतिम आचार्य हैं। जाने किस संदर्भ का छंद उठाकर लाते हैं और ऐसे नये संदर्भ में रखते हैं कि संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। इस प्रकार वे नये-नये जीवन-संदर्भों से कविता का अर्थ-विस्तार करते हैं। अब कोई इस बात के लिए उन्हें आलोचक मानने से इनकार करे तो अपनी बला से ! आलोचना उनके लिए विश्लेषण का पर्याय नहीं है, परोपजीवी आलोचना के लिए हो तो हो।'1

–नामवर सिंह

इतिहास के सवाल और भारतीय संस्कृति–चुनौती और चर्या

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय भारतीय समाज, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के सवाल को लेकर कई तरह की अवधारणाएँ सक्रिय थीं। इन अवधारणाओं में मतभिन्नताएँ तो थी ही, मतविरोध और आत्म-विरोध भी कम नहीं थे--- खासकर भारतीय इतिहास और संस्कृति के सवाल पर। ऐसा कुछ तो पश्चिम और पूरब के विद्वानों के सामने तथ्यों के पूरी तरह स्पष्ट नहीं रहने से अनुमान पर जरूरत से ज्यादा आश्रित हो जाने के कारणों से था तो कुछ औपनिवेशिक हितबोध एवं अहितबोध से बनी इतिहास-दृष्टि के कारणों से था। कहा जा सकता है कि वह समय जटिलताओं और उलझावों को समझने और सुलझाने की चुनौतियों से भरा हुआ था। यही चुनौती आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के भी सामने थी। आज भी ये चुनौतियाँ बनी हुई हैं, हालाँकि इनके बाह्य-स्वरूप

में बहुत परिवर्त्तन आ गया है, फिर भी इनकी अंतर्वस्तु में कोई बहुत अधिक परिवर्त्तन नहीं हुआ है। यह जरूर है कि हाल के विकास एवं नये तथ्यों और परिस्थितियों के सामने आने से उन चुनौतियों से जूझने के नये तौर-तरीके एवं बौद्धिक चर्या अनिवार्य बन गये हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक विवेक को समझने की कोशिश के लिए चुनौती और चर्या के बदले हुए परिप्रेक्ष्य के इस संदर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है।

भारतीय विद्या और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतीय विद्या के महान ज्ञाता थे। प्राचीन भारत के ज्ञान-शास्त्र की लगभग प्रत्येक शाखा से उनका न सिर्फ गहरा परिचय, बल्कि गहरा लगाव भी था। कहना न होगा कि लगाव से एक तरह का मोह भी उत्पन्न हो ही जाता है। भारतीय विद्या मोह की इस स्थिति के प्रति कदम-कदम पर सावधान करती आयी है। संभवतः इसीलिए 'निर्लिप्तता' की इतनी बड़ी महिमा मानी गई है। पूरी विनम्रता के साथ यह कहना जरूरी है कि भारतीय विद्या से गहरा लगाव कई बार उन्हें मोहग्रस्त भी करता है। यह समझना जितना आसान आज है, उतना तब नहीं रहा होगा, जब आचार्य काम कर रहे थे। आचार्य ने अपने समय में परंपरा के परिष्कार का बीड़ा उठाया था। चाहे जितनी सावधानी बरती जाये, अंततः परंपरा 'पवित्र वन' ही ठहर जाती है। जड़ी-बूटियों से भरा ऐसा 'पवित्र वन' जहाँ हर झाड़-झँखार 'संजीवनी' प्रतीत होती है। यह प्रतीति कदम-कदम पर भरमाती है। इस प्रतीति के कारण बाघ की 'जलती आँख' रौशनी की खबर लगने लगती है। संस्कृति के सूत्रों में उलझावों का होना स्वाभाविक है, जो संस्कृति जितनी अधिक पुरानी होती है उसके सूत्रों में उलझाव भी उतने ही अधिक होते हैं। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति काफी पुरानी है और स्वभावतः इसमें उलझाव भी बहुत हैं।

भारतीय संस्कृतिः रचाव और व्यावहार

रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता में इसकी बेहतर अभिव्यिक्त हुई है--- भारतीय संस्कृति पुरानी है, इतना ही नहीं विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के अंतर्विन्यासों के अंतर्मिलन से ऐतिहासिक विकास क्रम में इसका रचाव संभव हुआ है। यह कहते हुए अंतर्मिलन और अतिक्रमण का अंतर ध्यान में बराबर बना हुआ है। कहना न होगा कि राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ न सिर्फ संगामी

बल्कि अंतर्संबंधित भी होती है। राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का वाद-विवाद-संवाद भूगोल का इतिहास बनाते हैं। ध्यान से देखने पर, भारतीय भूगोल के इतिहास की यह विशिष्टता परिलक्षित होती है कि सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में अंतर्मिलानी तत्त्व का प्राचुर्य मिलता है, जबकि राजनीतिक प्रक्रियाओं में अतिक्रमण का तत्त्व अधिक सक्रिय प्रतीत होता है। यह समझना जरूरी है कि सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंतर्मिलानी तत्त्व ऐतिहासिक रूप से भारत की सांस्कृतिक एवं वास्तविक सच्चाई है, जबकि राजनीतिक प्रक्रियाओं में अतिक्रमण के तत्त्व में सच्चाई तो है, लेकिन इस अतिक्रमण की सच्चाई से बड़ी अतिक्रमण की प्रतीति है। यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जीवन में सच्चाई की अपनी भूमिका होती है तो प्रतीति की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती है। यह मानने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अक्सर सच्चाई को प्रतीति आच्छादित कर लिया करती है। इस तरह के आच्छादन से न सिर्फ सांस्कृतिक संबंधों की स्वनिहित जटिलता, बल्कि स्पर्शकातरता भी बहुत बढ़ जाती है। स्वाभाविक है कि भारतीय संस्कृति की आंतरिक उलझनों--- जो वैसे भी कम नहीं रही हैं--- को बौद्धिक औपनिवेशीकरण की कुचेष्टाओं और वि-औपनिवेशीकरण की छटपटाहटों ने और अधिक उलझाया एवं स्पर्शकातर बनाया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समक्ष ऐसी ही स्पर्शकातर उलझनों को न सिर्फ सावधानी से समझने और बरतने की चुनौती थी, बल्कि एक सुसंगठित राष्ट्र के रूप में भारत की अगली यात्रा के लिए सांस्कृतिक रसद जुटाने की चुनौती भी थी। ध्यान में होना जरूरी है कि इन स्पर्शकातर उलझनों के कारण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भारतीय राष्ट्र अपने आधुनिक संघटन की कतिपय गंभीर संरचनागत समस्याओं के सम्मुख था।

आजादी का मतलब और आंदोलन

आजादी के आंदोलन के दौरान और आजादी प्राप्ति के बाद भी भारत के वृहत्तर समुदायों का मन इस राष्ट्र में अपनी जगह को लेकर काफी उहापोह में था। डॉ. आंबेडकर के चिंतन में इसकी कुछ-कुछ झलक देखने को मिल सकती है। डॉ. आंबेडकर ऐतिहासिक रूप से तीन भारत का अस्तित्त्व मानते थे--- ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। वे यह मानते थे और बिल्कुल साफ लहजे में कहते थे कि 'यह बात माननी ही होगी कि ऐतिहासिक रूप से एक सामान्य भारतीय संस्कृति का अस्तित्त्व कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से

भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है। .... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।' इन तीनों भारत को मिलाकर एक आधुनिक भारत के बनने के लिए भारतीय संस्कृति की स्पर्शकातर उलझनों को सुलझाने की चुनौती आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय के सामने थी, उनके सामने भी थी। जाहिर है कि भारतीय संस्कृति की भिन्न-अभिन्न परंपराओं को उन्हें बार-बार परखना पड़ा।

संस्कार, तर्क और तकनीक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक विवेक के समक्ष इतिहास के क्या सवाल थे, क्या चुनौतियाँ थीं इसे समझना आवश्यक है। फिर, यह देखना भी आवश्यक होगा कि उन चुनौतियों से जूझने की उनकी तकनीक क्या थी, कौशल क्या थे, उनकी तर्क-पद्धति और उनके तार्किक निष्कर्षों की आत्म-संगतियों को भी खँगाल लेना अपेक्षित होगा। कहना न होगा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में प्रमुख चुनौती बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की थी। इस चुनौती से मुक्ति के लिए भारतीय इतिहास और संस्कृति की खोई और टूटी हुई कड़ियों को खोजना और जोड़ने का मुश्किल और जोखिम भरा काम था। इस मुश्किल और जोखिम के क्षेत्र का फैलाव बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के औपनिवेशिक चट्टानों की अंतर्संघाती-रेखाओं के बीच की गहरी खाइयों तक था। इतिहास और संस्कृति की ऐसी गहरी खाइयों में उतरना कम खतरनाक नहीं होता है। यह खतरा तब और ज्यादा बढ़ जाता है, जब सिर के ऊपर अपने संस्कारों का न उतारे जाने लायक भारी बोझ भी लदा हो। कहना न होगा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इतिहास और संस्कृति की गहरी खाइयों में अपने संस्कारों के भारी बोझ के साथ उतरने का जोखिम उठाते हैं। ये संस्कार प्राचीन एवं मध्यकालीन थे, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का युग आधुनिक था। कहना न होगा कि प्राचीन एवं मध्यकलीन मूल्यों के साथ आधुनिक मूल्यों के टकरावों और प्राचीन एवं मध्यकालीन ऐतिहासिक सवालों के उलझावों को आधुनिक जरूरतों के अनुसार खोलने की चुनौतियों के बीच आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक विकसित होता है। बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की चुनौतियों से जूझने के लिए इतिहास की बिखरी हुई वास्तविक कड़ियाँ जहाँ प्राप्त न हो सकीं, वहाँ अनुमान ही उपकरण था। अनुमान के लिए कल्पना का

उपयोग आवश्यक हुआ। कल्पना का हाथ और साथ मिलते ही संस्कारों को अपना खेल दिखाने का भरपूर अवसर मिला। बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की चुनौतियों के सवाल मुख्यतः इतिहास के सवाल थे। इतिहास के सवाल के अंतस्साक्ष्य संस्कृति एवं साहित्य से जुटाने के लिए आलोचना का विवेक अनिवार्य तो होता है, किंतु पर्याप्त नहीं होता है, उसके लिए गहरी इतिहास दृष्टि की भी जरूरत होती है। गहरी इतिहास दृष्टि के अभाव में इतिहास के पुराण बन जाने का खतरा पैदा हो जाता है। इतिहास दृष्टि के लिए सबसे अधिक घातक तत्त्व है--- कल्पना। मुश्किल यह कि साहित्य के लिए यही कल्पना संजीवनी होती है! कैसी विडंबना है साहित्य और इतिहास बड़े निकट के रिश्तेदार हैं और यह कल्पना एक के लिए अमृत है तो दूसरे के लिए विष! जीवन भी कम विचित्र नहीं है। सिद्धांतों में अमृत और विष भले ही अलग-अलग पाये जा सकते हैं, लेकिन जीवन में ये अक्सर एक साथ ही हासिल होते हैं, जीवन को दोनों की जरूरत होती है। हमारा सांस्कृतिक अनुभव बताता है कि जिसके नाभिकुंड में अमृत के एकांश का सदावास था उसी के दिमाग में विष भी विराजमान था!

चिंता और चेतना के संदर्भ

आधुनिक भारत का गठन औपनिवेशिक वातावरण में हुआ। औपनिवेशिकता का प्रभाव इतना सूक्ष्म होता है कि पता भी नहीं चलता कि उसका कौन-सा तत्त्व किस तरह से प्रभावित कर रहा है। लोक-जागरण और नवजागरण के अंतर को भी ध्यान में रखना चाहिए। लोक-जागरण भारतीय समाज के आंतरिक दबाव से अनुप्रेरित था, जबकि नवजागरण में बाह्य-औपनिवेशिक आकर्षण भी काफी सक्रिय था। यद्यपि बाह्य-औपनिवेशिक होने मात्र से उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता है, फिर भी उसकी कुछ ऐतिहासिक सीमाओं को नजरअंदाज करना उचित नहीं प्रतीत होता है। शायद यही कारण हो कि भारतविदों को नवजागरण से अधिक लोकजागरण, अर्थात भक्तिकाल रुचता है। लोकजागरण और नवजागरण की चेतना के बीच में है, 1857 की चेतना। लोक जागरण, 1857 और नवजागरण की चेतना की अंतर्संबंधों और अंतर्बद्धताओं का पुनर्अध्ययन अलग से और अधिक व्यापकता से किया जाना अपेक्षित है, यहाँ इतना ध्यान दिलाना ही पर्याप्त है कि मध्यकाल के लोकजागरण का राजनीतिक समाहार 1857 में हुआ। नवजागरण के राजनीतिक पक्ष को 1857 तो नहीं भाया, इसके बावजूद नवजागरण की दीप्ति के आलोक में लोकजागरण की सांस्कृतिक आभा और बढ़

गई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का गहरा संबंध नवजागरण के प्रमुखों से था। जाहिर है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी चिंता और चेतना का संदर्भ उनके इस गहरे जुड़ाव से तय होता था। क्या 1857 के हुए बिना नवजागरण को इतना अधिक राजनीतिक-प्रश्रय, शासकीय-संबल, बौद्धिक समर्थन और थोड़ा-बहुत भी सामाजिक प्रसार मिलना संभव था! इतिहास साक्षी है कि 1857 का बाह्य उपनिवेशी शक्तियों पर तो तीव्र असर हुआ ही आंतरिक उपनिवेशी शक्तियों पर भी इसका असर कम नहीं हुआ। यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि 1857 का नेतृत्व मुख्य रूप से उन समुदायों के सदस्यों के हाथ में था जिन समुदायों को आंतरिक उपनिवेश के लिए मुख्य रूप से जिम्मेवार माना जाता है, जबकि 1857 का मुख्य शक्ति-स्रोत वे समुदाय थे, जो मुख्य रूप से आंतरिक उपनिवेश के सामाजिक शिकार थे। 1857 के इस अंतर्विरोध को ध्यान में रखने पर, यह देखना और भी दिलचस्प हो सकता है कि नवजागरण के आलोक में विकसित होते भारतीय राष्ट्रवाद का राजनीतिक एजेंडा किस प्रकार बदल गया एवं किस प्रकार स्थानापन्न राष्ट्रवाद विकासमान ऐतिहासिक राष्ट्रवाद से अधिक प्रभावी बन गया। फिर भी सामाजिक मुक्ति और राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा की जो लौ 1857 में जली उसका आलोक आंतरिक उपनिवेशन के शिकार बने समुदायों तक भी अवश्य पहुँची, ऐसा मानकर चलने में कोई बौद्धिक असंगति नहीं दिखती है। यह सच है कि इतिहास को लौटाया नहीं जा सकता है और न वर्त्तमान की प्रक्रियाओं को अतिक्रमित कर भविष्य को ही पाया जा सकता है, लेकिन वर्त्तमान की चोट से बौखलाये लोगों में इतिहास और भविष्य की तरफ लपकने की प्रवृत्ति अवश्य सक्रिय हो जाती है। गौर किया जा सकता है कि 1857 के बाद इतिहास के प्रति बौद्धिक रवैया में क्या और कितना फर्क आया। इतिहास का संपूर्ण न तो मरा हुआ होता है और न इतिहास के लिए वर्त्तमान कोई वर्जित प्रदेश ही होता है। इतिहास यदि शव हो तो साहित्य कहाँ पलेगा? शव-गर्भ में! न तो इतिहास शव होता है और न इतिहास का अध्ययन ही शवसाधना होती है। यह बात इतिहास के अंत की घोषणा करनेवालों की समझ में तो तब भी रही होगी और अब तो, दबे स्वर में ही सही, उनकी खुली आत्मस्वीकृतियाँ भी सामने आ रही है। इतिहास की तरफ आँख के घूमते ही भक्तिकाल--- जिसे सामाजिक क्रांति का युग माना जा सकता है--- की सामाजिक चेतना में राजनीतिक चेतना के संप्रसार का दृश्य भासमान होने लगता है। हिंदी क्षेत्र में यह संप्रसार उतनी तेजी से इसलिए नहीं हो पाया, क्योंकि इस क्षेत्र की राजनीतिक

प्रक्रिया पर 1857 का इतना अधिक राजनीतिक दबाव था कि एक ओर उसके पास भक्तिकाल की सामाजिक चेतना के कुमुक के इंतजार करने का समय नहीं था तो दूसरी ओर नवजागरण में अंतर्भुक्त लोकजागरण को स्वीकार करने का सामाजिक मन के बनने का अवसर भी नहीं था! नतीजा यह कि हिंदी क्षेत्र की राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया का सामाजिक प्रक्रिया से विच्छिन्न हो जाना लगभग अनिवार्य-सा हो गया। इस विच्छिन्नता के कारण हिंदी क्षेत्र की बौद्धिकता विकलांगता की शिकार हो गई।

बौद्धिक अन-उपनिवेशन

अपनी बौद्धिकता के बल पर जिन लोगों ने आंतरिक उपनिवेश रचा था उनकी बौद्धिकता का उपनिवेशित हो जाना कितना त्रसद रहा होगा इसका अनुमान बहुत कठिन नहीं है। जिन शास्त्रों के ज्ञान पर इतना नाज था वे शास्त्र ही बेमानी हो गये थे! राजनीतिक पराभव का ऐसा बौद्धिक आघात कितना दुस्सह्य रहा होगा इसका भी अनुमान बहुत कठिन नहीं है। इसीलिए, औपनिवेशिक शक्ति के चंगुल से--- खासकर बौद्धिक एवं सांस्कृतिक औपनिवेशिकता के चंगुल से--- छुटकारा पाने के लिए बाह्य-औपनिवेशिक शासन के जड़ जमाने के पहले के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक भारत की ओर देखना लाजिमी था। यही वह बिंदु है, जहाँ भारत का बौद्धिक एवं सांस्कृतिक अवस्थान इतिहास के जादुई प्रिज्म में कैद होता है। इस अवस्थान में ऐसे सामाजिक तत्त्व भी कम नहीं हैं, जो बाहरी उपनिवेश के साथ ही आंतरिक उपनिवेश के होने की भी पुष्टि करते हैं। बाहरी उपनिवेश का मुकाबला राजनीतिक आंदोलनों से और भीतरी उपनिवेश का मुकाबला समाज-सुधार के आंदोलनों के जरिये होना था। आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति के लिए समाज-सुधार के विभिन्न आंदोलनों की झलकियाँ इतिहास में दर्ज हैं, बल्कि कहना यह चाहिए कि आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति के लिए भारत में समाज-सुधार के आंदोलन सदैव चलते रहे हैं--- ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण कभी सतह के ऊपर, तो कभी सतह के नीचे। हालाँकि, भारत की संस्कृति कहने से जो प्रमुख प्रतीति होती है, उसके प्रमुख बौद्धिक पक्ष का निःशर्त्त समर्थन समाज-सुधार के आंदोलन को कम ही मिला है। इस सच्चाई को स्वीकारते हुए यह मानना पड़ेगा कि भक्ति-काल समाज-सुधार के आंदोलन और विरोध का सबसे प्रमुख काल है। भारतीय चिंता और चेतना को अंतर्वस्तु प्रदान करनेवाले चार मौलिक तत्त्वों की चर्चा की जाए तो उसमें आर्यों का

मूल-स्थान, ब्राह्मण-वर्चस्व, बौद्ध-विमर्श और इस्लाम का अनुप्रवेश अनिवार्य रूप से शामिल रहेगा। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि और उनके आलोचना विवेक को समझा जा सकता है।

ऐसा न हुआ होता, तब भी ऐसा ही हुआ होता

एक खास ऐतिहासिक परिस्थिति में विकसित इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक को दूसरी ऐतिहासिक परिस्थिति में विकसित इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक जब देखने-परखने की कोशिश करता है तो उनके निष्कर्षों में अंतर का आना स्वाभाविक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अलोचनात्मक विवेक को देखने की कोशिश दरअसल अपने आलोचना विवेक को दुरुस्त करने की ही कोशिश है। मुझे इस बात का ध्यान है।

लोक के आचार-विचार और लोकभाषा की ओर पांडित्य का झुकाव

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस्लाम के प्रमुख विस्तार को भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना तो मानते हैं, किंतु फिर भी निष्कर्ष यही निकालते हैं कि भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी रेखांकित करते हैं कि ऐसे राजा बहुत कम हुए जो संस्कृत अच्छी तरह समझ सकते हों। पेंच 'अच्छी तरह' में है, समझा जा सकता है कि जब 'राजा' का ही यह हाल था तो 'प्रजा' का क्या हाल रहा होगा। जब न 'राजा' संस्कृत जानता था, न 'प्रजा' संस्कृत जानती थी तब भी जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों को संस्कृत में लिखने की क्या विवशता थी? इस विवशता का पता नहीं चलता है। इस विवशता पर कोई साफ टिप्पणी नहीं करने की आचार्य की विवशता का भी पता नहीं चलता है! वे कहते हैं, 'संस्कृत की कविताएँ लोक-भाषा के द्वारा बोधगम्य करायी जाती थी और इस प्रकार मूल कविता का स्वाद कुछ बाधा पाकर राजा और सामंत तक पहुँचता था, पर अपभ्रंश की कविता सीधे असर करती थी। ऐसे राजा बहुत कम हुए जो संस्कृत अच्छी तरह समझ सकते हों। इसका अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश भाषा कविता का राजानुमोदित वाहन हो गयी। एक बार राजाश्रय पाकर वह बड़ी तेजी से चल निकली। यहाँ भी हम देखते हैं कि लोक-भाषा की ओर झुकाव

स्वाभाविक रूप से ही हो चला था, किसी बाहरी शक्ति के कारण नहीं। ऊपर की बातों से अगर कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो वह यही हो सकता है कि भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था, यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था।' अगर यह बात संगत है तो यह देखना दिलचस्प होगा कि खुद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पांडित्य का झुकाव किस तरफ था। एक ओर तो वे यह मानते हैं कि अपनी भू-सांस्कृतिक परिस्थितियों के चलते 'मध्यदेश' वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय 'रक्षणशील' और 'पवित्र्याभिमानी' रहा है। भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरंतर संघर्ष के कारण रक्षणशीलता और श्रेष्ठतत्त्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में विचार में निरंतर परिवर्त्ति होते रहने के बावजूद अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहने को बद्धमूल कर दिया। दूसरी तरफ वे कहते हैं कि ईसा की एक सहस्राब्दी बाद विचार में ही नहीं आचार में भी और भाषा के क्षेत्र में भी लोक की ओर उसका झुकाव स्वाभाविक था। यदि अपने संस्कृत-अज्ञान के कारण 'राजा' का और पंडितों का झुकाव लोक की ओर हुआ तो राजा और पंडितों को लोक के 'आश्रय' में जाना पड़ा, यह नहीं कि लोक को पंडितों के या राज के आश्रय में जाना पड़ा। सहज निष्कर्ष यह होना चाहिए कि 'राजा' और 'पांडित्य' को लोकाश्रय की जरूरत थी और वह उसे मिला! लेकिन, इस तरह की असहज कर देनेवाली सहज बातों को दबाकर उलट देना ही तो असल पांडित्य होता है! ईसा की बीसवीं सदी और आजादी के बाद पांडित्य की यह मनोदशा है तो उसके आधार पर हजार वर्ष पहले की मनोदशा का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

फिर भी संस्कृत की महिमा अपरंपार

संस्कृत न राजा के लिए बोधगम्य था, न प्रजा के लिए व्यावहार्य लेकिन इसकी महिमा अपरंपार बनी हुई रही! हजारों पुश्त तक भारतवर्ष के सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात इसकी सेवा में लगे रहे! यद्यपि, ईसा की एक सहस्राब्दी बाद विचार में ही नहीं आचार में भी और भाषा के क्षेत्र में भी लोक की ओर उसका झुकाव हो गया था, तथापि उसके लगभग एक हजार वर्ष बाद अर्थात आचार्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भी सर्वोत्तम मस्तिष्क संस्कृत की सेवा में लगे हुए थे! अपनी उल्लेखनीय 'चिंता पारतंत्य' के बावजूद! असल में आचार्यों के दिमाग में यह बात सदैव जमी रही है कि संस्कृत में कम करनेवाला दिमाग ही सर्वोत्तम होता है। कुछ लोगों की कुछ-कुछ ऐसी ही धारणा आज अंग्रेजी के बारे में है कि उत्तम मस्तिष्क अंग्रेजी में ही काम कर सकता है, जनभाषाओं में उत्तम मस्तिष्क के लिए सम्मानजनक जगह ही कहाँ होती है! भगवान बन जाने के बाद बुद्ध का मुख, मुख नहीं रह गया होगा--- मुखारविंद हो गया होगा! भगवान के मुख से पालि का उच्चारण संदेह से परे तो हो ही नहीं सकता है! इसलिए, यह संदेह पांडित्योचित ही है कि उस युग की लोकभाषा कही जानेवाली पालि सचमुच ही बुद्धदेव के मुख से उच्चारित भाषा थी या नहीं। हालाँकि संतुलन बनाये रखने की विवशता थी, इसलिए इतना तो पंडितों को स्वीकार ही पड़ा कि संस्कृत भाषा को इस युग में पहली बार एक प्रतिद्वंद्वी भाषा का सामना करना पड़ा था। लोक के आचार-विचार और भाषा के प्रति झुकाव को स्वाभाविक मानना और फिर यह कहना कि प्रियदर्शी महराज अशोक ने दृढ़ता के साथ लोकभाषा को प्रचारित करना चाहा था। जिस लोक भाषा की ओर स्वाभाविक झुकाव था, उस लोकभाषा को भी दृढ़ता से प्रचार के लिए प्रियदर्शी महराज अशोक जैसे– सम्राट की जरूरत थी! वह साहित्य पंडितों के लिए स्वीकार्य प्रमाण कभी हो ही नहीं सकता, जो यह कहता हो कि बुद्धदेव ने न सिर्फ लोकभाषा में उपदेश दिया था, बल्कि निश्चित रूप से अपनी वाणी को संस्कृत में रूपांतरित किये जाने का निश्चित निषेघ भी किया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'इस भाषा (संसकृत) में साहित्य की रचना कम-से-कम छह हजार वर्षों से निरंतर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रंथों के पठन-पाठन और चिंतन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूरी तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है। फिर भी भाषा की समस्या इस देश में कभी उठी ही नहीं हो, सो बात नहीं है। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने संस्कृत के एकाधिपत्य को अस्वीकार किया था, उन्होंने लोकभाषा को आश्रय करके अपने उपदेश प्रचार किये थे। ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत भाषा को इस युग में पहली बार एक प्रतिद्वंद्वी भाषा का सामना करना पड़ा था। जहाँ तक बौद्ध धर्म का संबंध है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा

सकता है कि उस युग की लोकभाषा कही जानेवाली पालि सचमुच ही बुद्धदेव के मुख से उच्चारित भाषा थी या नहीं। प्रियदर्शी महाराज अशोक ने दृढ़ता के साथ लोकभाषा को प्रचारित करना चाहा था। इसका सबूत हमारे पास है और सीलोन तथा वर्मा आदि में प्राप्त पालि भाषा का बौद्ध साहित्य भी हमें बताता है कि बुद्धदेव ने सिर्फ इस लोकभाषा में उपदेश ही नहीं दिया था, बल्कि निश्चित रूप से अपनी वाणी को संस्कृत में रूपांतर करने का निषेद्य भी किया था। यह साहित्य स्थविरवादियों का है, जो कई बौद्ध संप्रदायों में से एक है। आधुनिक काल में बौद्ध साहित्य की जब चर्चा शुरू हुई थी, तब इन पालि ग्रंथों को एक मात्र प्रमाण मान लिया गया था, और उस समय जो कुछ कहा गया था वह अब भी संस्कार रूप से बहुत से सुसंस्कृत जनों के मन पर रह गया है, परंतु सही बात यह है कि स्थविरवादियों का यह साहित्य विशाल बौद्ध साहित्य का एक अत्यंत अल्प अंशमात्र है। न तो वह एक मात्र बौद्ध साहित्य है और न सर्वाधिक प्रामाणिक साहित्य ही है, न यही जोर देकर कहा जा सकता है कि यही सबसे अधिक पुराना साहित्य है। ..... बहुत पुराने काल में हीनयान और महायान दोनों ही प्रधान बौद्ध शाखाओं के ग्रंथ संस्कृत अर्द्ध-संस्कृत में लिखे जाने लगे थे। आज इनमें का अधिकांश खो गया है। ... इस प्रकार यद्यपि एक संप्रदाय की गवाही पर हम पालि को संस्कृत की प्रतिद्वंद्वी भाषा के रूप में पाते हैं, तथापि बहुत शीघ्र ही संस्कृत ने उस प्रतिक्रिया पर विजय प्राप्त कर ली थी। ... शुरू-शुरू में मुसलमान बादशाह भी इस भाषा की महिमा हृदयंगम कर सके थे। पठानों के सिक्कों से नागरी अक्षरों का ही नहीं, संस्कृत भाषा का भी अस्तित्त्व सिद्ध किया जा सकता है, परंतु बाद में जमाने ने पलटा खाया और अदालतों और राजकार्य की भाषा फारसी हो गयी। इस देश के बड़े समुदाय ने नाना कारणों से मुसलमानी धर्म का वरण किया और फलतः एक बहुत बड़े समुदाय की धर्मभाषा अरबी हो गयी। यह अवस्था अधिक से अधिक पाँच सौ वर्षों तक रही है, परंतु आप भूल न जाएँ कि इस समय भी भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिंता का स्रोत संस्कृत के रास्ते ही बह रहा था। ... इस युग में यद्यपि संस्कृत ग्रंथों में से मौलिक चिंता बराबर घटती जा रही थी फिर भी वह एकदम लुप्त नहीं हो गयी थी। .... अर्थात हमारे छह सात हजार वर्ष के विशाल इतिहास में अधिक से अधिक पाँच सौ वर्ष ऐसे रहे हैं, जिनमें अदालतों की भाषा संस्कृत न होकर एक विदेशी भाषा रही है। दुर्भाग्यवश इस सीमित काल और सीमित अंश में व्यवहृत भाषा का दावा आज हमारी भाषा समस्या का सर्वाधिक जबर्दस्त

रोड़ा साबित हो रहा है। ....इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहस्रों वर्षों पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिये हुआ है, उसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती--- फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के माननेवालों की हो या उस धर्म के। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष।'

पंडितों ने सिर्फ बुद्ध को ही भगवान नहीं बनाया, बल्कि बुद्धवाणी को भी वेद बनाना चाहा--- संस्कृत में ढालकर। बार-बार यह बात महसूस की जाती रही है कि इस क्रम में बुद्ध तो बहुत हद तक भगवान विष्णु बना दिये गये, लेकिन बौद्धों को किसी न्यूनतम हद तक भी वैष्णव नहीं माना गया! अद्‌भुत बौद्धिक विचक्षणता का उदाहरण है यह कहना कि शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। असल बात तो यही हो सकती है कि शंकराचार्य ने बौद्ध तत्त्ववाद को बौद्धिक रूप से आच्छादित कर लिया। किसी भी ब्राह्मण-विरोधी विचार को 'देश की अद्वितीय महिमाशालिनी--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धष'--- भाषा संस्कृत में ढालकर उनके ब्राह्मणीकरण के बाद सामाजिक परिस्थिति के अनुकूलन में उपयोग करने, संरक्षित कर लेने की प्रविधि पंडितों के लिए बहुत कारगर रही है। असल में 'देश की अद्वितीय महिमाशालिनी, अविजित, अनाहत और दुर्द्धष' भाषा को न राजा समझता था न प्रजा--- शास्त्रों में निहित विचारों की मनमानी व्याख्या के लिए यह भाषा धोखे की ऐसी टट्‌टी बनाती थी जिसमें हर प्रभुत्व-संपन्न को अपना हित सुरक्षित दिखता था! बुद्ध को इस खतरनाक 'पंडित प्रविधि' के चाल-चरित का ज्ञान जरूर रहा होगा तभी उन्होंने संस्कृत में अनुवाद का निषेध किया होगा। इस तरह, 'बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं।' यह कैसा मंतव्य है कि धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति बौद्ध-धर्म के उद्‌भव के कारण उत्पन्न नहीं हुई! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'असल में बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुनःस्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति उत्पन्न हो गयी।' यह क्रांति, नहीं अभूतपूर्व क्रांति बौद्ध-धर्म के उद्‌भव से नहीं बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुनःस्थापना से हुई! इसी तरह के 'निश्च्छल आत्म-विश्वास' के साथ ब्राह्मण-धर्म की विशेषता

को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता के रूप में स्थापित करने की भी कोशिश की गई है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्थापना है, 'सारे संसार की अपेक्षा भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता है और विशेषता का कारण एक भारतीय विश्वास है। यह है पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धांत। प्रत्येक पुरुष को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा। ... पुनर्जन्म का सिद्धांत वैसे तो खोजने पर अन्यान्य देशों में भी किसी न किसी रूप में मिल जा सकता है, परंतु कर्मफल-प्राप्ति का सिद्धांत कहीं भी नहीं मिलता।' तो जो विचार और साहित्य इस 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को नहीं माने उसे भारतीय मानने में ही झिझक स्वाभाविक है! यह है ऐतिहासिक विवेक और आलोचना दृष्टि!

चिंता पारतंर्त्य और पर का मतलब

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने दो बड़ी चुनौती थी--- पहली यह कि बुद्ध एवं महावीर के उद्‌भव के बाद ब्राह्मण-विरोध का जो ऐतिहासिक, दार्शनिक और सामाजिक वातावरण बना था उसके समग्र प्रभाव से बाहर निकलने के लिए ब्राह्मणों के द्वारा अपनाये गये कौशलों का औचित्य संस्थापन एवं महत्त्व-निर्धारण दूसरी यह कि इस्लाम के संसर्ग के प्रभाव से उत्पन्न ऐतिहासिक, दार्शनिक और राजनीतिक वातावरण में उस औचित्य-संस्थापन एवं महत्त्व-निर्धारण की प्रक्रिया के क्षरण को रोकना। अर्थात, 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुनःस्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में जो अभूतपूर्व क्रांति' उत्पन्न हुई थी उसकी लौ को बचाने की चुनौती थी! अपनी इसी ऐतिहासिक चुनौती के अंतर्गत भक्ति-साहित्य की व्याख्या की आलोचना दृष्टि उन्होंने विकसित की। 'मुसलमानों के आने के पहले इस देश में कई ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुलपाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर था। नाथों और निरंजनियों की अत्यधिक प्रबलता थी। बाद के साहित्य में इन मतों का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। दक्षिण से भक्ति की जो प्रचंड आँधी आई, उसमें ये सब मत बह गए, पर क्या एकदम मिट गए? लोकचित्त पर से क्या वे एकदम झड़ गए? हिंदी, बँगला, मराठी, उड़िया आदि साहित्यों के आरंभिक काल के अध्ययन से इनके बारे में बहुत-कुछ जाना जा सकता है।' ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय--- जिनमें बौद्ध और जैन भी शामिल हैं--- दक्षिण से आई भक्ति की

प्रचंड आँधी में 'बह' गये! यह तो हद ही है! या फिर क्या पता कोई उलटबाँसी ही हो!

प्रतिभा का प्रमाण

पंडित थे तो बुद्धि और प्रतिभा तो होनी ही थी! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि चिंता-पारतंत्य 'मुसलमानी धर्म' के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था! 'पर' के साथ ऐसी भाषा का प्रयोग करने में पांडित्य को कभी हिचक नहीं होती है। 'असल में जो कुछ लिखा गया, उसमें बुद्धि और प्रतिभा का तो काफी विकास हुआ, परंतु यह निश्चित रूप से विश्वास कर लिया गया कि यह ज्ञान प्राचीनों के ज्ञान से निम्न कोटि का है। इसी मनोवृत्ति का परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सहारा लेना पड़ा। यह एक व्यापक भाव फैला हुआ-सा जान पड़ता है कि बिना इसका सहारा लिये कोई मतवाद टिक ही नहीं सकता। ईसा की पहली सहस्राब्दी में ही इस मनोभाव ने जड़ जमा ली थी और वह उत्तरोत्तर बद्धमूल होता गया। यहाँ स्मरण कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यह चिंता-पारतंत्य मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था और परवर्त्ती हिंदी साहित्य में इसके उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी, बिल्कुल गलत होगा। असल में, वह कोई और कारण होना चाहिए, जिसने भारतीय चिंता में इस चिंता-पारतंत्य को जन्म दिया, विदेशी आक्रमण नहीं।' क्या उस युग में प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सिर्फ सहारा लिया जा रहा था? कोई चुनौती नहीं दी जा रही थी? यह संभव तो नहीं है। तब यह जरूर संभव है कि जो प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण के ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सहारा नहीं लेता होगा उसे पंडितों के समकक्ष मानने का 'औचित्य' नहीं रहा होगा। आचार्य लोग आज भी नहीं मानते, तब की तो बात ही और थी! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'वस्तुतः परवर्ती काल में समस्त भारतीय चिंतन और आचरण के निर्णायक के रूप में गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों को ही प्रमाण माना गया है। इन्हीं को 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं। दर्शन के क्षेत्र में अर्थात जीव और ब्रह्म का स्वरूप, उनका संबंध, माया या ब्रह्म-शक्ति के व्यापार आदि बातों में मतभेद बराबर बने रहे, परंतु संपूर्ण जीवन के प्रति जो व्यापक दृष्टि है वह बराबर एक-सी बनी रही। बौद्ध और जैन परंपरा के अभ्युदय

से भी उस जीवनदृष्टि में कोई खास फर्क नहीं पड़ा। केवल दीर्घ अनुभव और तदनुकूल परिष्कृत धर्माचार के इस पक्ष या उस पक्ष पर बले देने के कारण इनके स्वरूप में कुछ अंतर दिखाई देता है।' क्या अद्‌भुत निष्कर्ष है -- बौद्ध और जैन परंपरा के अभ्युदय से भी उस जीवनदृष्टि में कोई खास फर्क नहीं पड़ा। इस निष्कर्ष को ठीक माना जाये तो भक्तिकाल में व्याप्त शास्त्र और लोक के द्वंद्व एवं जीवनदृष्टि को किस तरह व्याख्यायित किया जा सकेगा!

लोकभाषा को राजकीय सम्मान

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने इस्लाम के आगमन के सांस्कृतिक प्रभाव को न्यून और अंततः अदृश्य साबित कर देने की चुनौती थी। इसके लिये सांस्कृतिक बहिष्करण की सामाजिक प्रक्रिया की वास्तविकता को सांस्कृतिक समूलियत या नत्थीकरण की काल्पनिक प्रक्रिया से आच्छादित करना जरूरी था। समाज में साफ दिखनेवाली स्थिति को अदृश्य बनाना शास्त्र में अदृश्य बनाने जितना आसान नहीं होता है। सत्ता और शास्त्र पर कब्जा करना जितना आसान होता है समाज पर कब्जा करना उतना आसान नहीं होता है। समाज में समूलियत के लक्षणों को अदृश्य बनाना संभव नहीं था इसलिए सत्ता और शास्त्र में इसे अदृश्य करने का प्रयास ही एक मात्र रास्ता हो सकता था, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसी रास्ते का अनुसरण करते हैं। ब्राह्मण यदि संस्कृत के अलावे किसी अन्य भाषा का आश्रय लेता है तो वह अपने को छोटा क्यों समझेगा! छोटे- बड़े का स्थान भाषा के व्यावहार से नहीं सामाजिक अवस्थान से तय होता है। इन कवियों के सामाजिक अवस्थान से बात स्वतः साफ हो सकती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व से ही निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, इस संपूर्ण साहित्य में ऐसा कोई कवि नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चंद बलि.य (चंद वरदाई) हिंदी भाषा का आदि कवि माना जाता है। असल में यह अपभ्रंश का अंतिम कवि अधिक है और हिंदी का आदि कवि कम। .....असल में अपभ्रंश भाषा में काव्य-रचना चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नयी भाषा को स्थान दे दिया था। विद्यापति ने पूर्व देश में एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश दोनों में काव्य लिखा

था। यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है। यदि आधुनिक भाषा में इन अपभ्रंशों का स्वाभाविक विकास है तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकता से संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है, जबकि अपभ्रंश के काव्यों में खोजने पर भी संस्कृत के शब्द अपने मूल रूपों में नहीं मिलते? मेरा तात्पर्य वर्तमान भाषा से नहीं, बल्कि सूरदास-तुलसीदास आदि की प्राचीन काव्यभाषा से है। केवल पुस्तकगत भाषा में ही नहीं, उन दिनों में प्रचलित बोलचाल की भाषा में भी संस्कृत तत्सम शब्द अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्र में बोले जाते थे। ऐसा न होता, तो कबीर और दादू की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानों ने इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था। असल में बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुनःस्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति उत्पन्न हो गयी। बौद्ध धर्म का प्रसार साधारणतः विदेशियों में ही अधिक हुआ, क्योंकि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके। जैन-धर्म का प्रभाव भी अधिकांश में शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासियों पर ही पड़ा होगा, जो धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे थे। सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर इस देश में प्राचीन वैदिक धर्म बड़े जोरों से उठ खड़ा हुआ था। इस समय के ऐसे बड़े-बड़े राजे, जो अधिकांश में क्षत्रियत्व का पद प्राप्त करने के प्रयासी रहे होंगे, ब्राह्मण आचार्यों के प्रभाव में आते गये और इस प्रकार संस्कृत भाषा को बहुत बल मिला। जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों की सहायता ली गयी। वे संस्कृत में लिखे गये थे। कथावाचक इनकी व्याख्या लोकभाषा में करते होंगे, पर उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता रही होगी। फिर, जैसा कि श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने कहा है, इसी समय संस्कृत भाषा के प्रचार में शंकर मत की विजय से सहायता मिली होगी। शंकराचार्य का उत्कर्ष ईसा की आठवीं शताब्दी के आस-पास हुआ। उनके मत की छाप सर्वसाधारण पर पड़ी। उक्त मत का प्रसार संस्कृत भाषा के द्वारा ही होने के कारण सर्वसाधारण की भाषा में संस्कृत शब्द आ गये और धीरे-धीरे संस्कृत से हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि संस्कृत प्रचुर भाषाएँ बनीं। तमिल आदि भाषाओं का इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और सूरदास की भाषाओं में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता होना, अपभ्रंश भाषाओं के स्वाभाविक विकास के विरुद्ध नहीं ले जाता और न इससे उनमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव

ही सिद्ध होता है।' यह मानना कि बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में कोई क्रांति उत्पन्न हो गयी या यह मानना कि बौद्ध धर्म का प्रसार साधारणत: विदेशियों में ही अधिक हुआ, अपने आप में असंगत और इतिहास-विरोधी है। सिर्फ इसलिए कि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं मानते थे, इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके--- यह बात समझ से परे हैं। इस देश में 'क्षत्रियत्व' और 'वैश्यत्व' का पद देना बौद्ध और जैन-धर्म के हाथ में तो था नहीं फिर उनके प्रभाव में आये शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासी कैसे धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे! यह ठीक है कि सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर शंकराचार्य के आगमन के बाद प्राचीन वैदिक धर्म एक बार फिर उठने की कोशिश करता है, बड़े जोरों से उठ खड़ा नहीं हो जाता है! कहना न होगा कि प्राचीन वैदिक धर्म मूलत: शास्त्र-मत पर आधारित था, जबकि सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद सभी संप्रदाय, शास्त्र और मत लोकमत में घुलने को बाध्य हुए। 'महायान संप्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय, सन् ईसवी के आरंभ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहाँ तक कि अंत में जाकर लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया। सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी संप्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई। मुसलमानों के संसर्ग से उसका कोई संपर्क नहीं है। हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों और पंडितों के ऊँचे आसन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत की ओर आने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप में हुई। उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिंदी साहित्य है।' लोकमत में घुलना-मिलना क्या लुप्त हो जाने का प्रमाण हो सकता है? लोकमत में घुलने से जहाँ लोक-चित्त में बदलाव आया वहीं शास्त्र के आत्म-चरित में भी कम बदलाव नहीं आया। यह शास्त्र के आत्म-चरित में बदलाव का ही परिणाम है कि बौद्ध धर्म का उच्छेदक माने जानेवाले खुद शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया। यह कैसे हुआ? असल में शंकराचार्य ने बौद्ध तत्त्ववाद के मूलांश का बहुत ही कुशलता से वैदिकीकरण किया इससे बौद्ध धर्म को वैदिक परिधि में समेट लेना संभव हुआ! पंडितों की नजर से यह बात छिपी कैसे रह सकती थी! जिस भक्ति की इतनी महिमा बताई जाती है, शंकराचार्य का मत उस भक्ति का समर्थन नहीं करता है। इस बात को स्वीकार करते हुए भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्ति-आंदोलन के सूत्रपात

का प्रेय और श्रेय शंकराचार्य को देते हैं, यह सीधे संभव नहीं था, तो उलटकर ही सही! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आंदोलन का मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दी के आस-पास दक्षिण में सुप्रसिद्ध शंकराचार्य के दशवनार्क मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अद्वैतवाद में, जिसे बाद के विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त नहीं थी, क्योंकि भक्ति के लिए दो चीजों की उपस्थिति आवश्यक है, जीव की और भगवान की। प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था। दक्षिण के अलवार भक्त इस बात को मानते थे। इसलिए बारहवीं शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया।' 12 यह ठीक है कि 'प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था', लेकिन 'प्राचीन भागवत धर्म' के प्रचारित और प्रचलित होने में बुद्ध के वैष्णवीकरण और इस प्रकार से बौद्ध धर्म का जो योगदान था उसकी चर्चा खुले मन से और सीधे-सीधे न करना किस प्रकार के ऐतिहासिक विवेक और सत्य का निदर्शन करता है! सत्य तो 'अश्वत्थामा हतो' में भी निहित था, मगर क्या सचमुच था! राजनीति का विवेक भले ही अर्द्धसत्य को मूल्यवान मानता हो, लेकिन आलोचना का विवेक!

हिंदू और बौद्ध

वैदिक एवं बौद्ध धर्म के संबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में समझे बिना भारतीय संस्कृति को रत्ती भर भी जानना संभव नहीं है। संबंधों पर विचार तो बहुत हुआ है, स्वीकार और अस्वीकार का साहस भी बहुत दिखाया गया है, फिर भी ऐसा कुछ कपच लिया जाता है कि बस सही परिप्रेक्ष्य नहीं मिल पाता है। ईमानदारी से इन संबंधों को समझने और इनकी जटिलताओं को खोलने का सांस्कृतिक प्रयास किया जाता तो भारत की बहुतेरी सामाजिक समस्याओं का समाधान का रस्ता स्वतः हो साफ जाता। असल में ऐसा नहीं हुआ तो उसके लिए राजनीतिक कारण ही जबावदेह है।

टकराव और द्वंद्व

जो लोग भारत की सामाजिक समस्याओं को राजनीतिक समस्या मानते हैं, वे कदाचित रोग को अधिक सही ढंग से समझते हैं! बौद्ध धर्म के अवदान को सहज मन से स्वीकारने के लिए सत्ता और शास्त्र से जुड़ा बौद्धिक प्रभुवर्ग कभी

तैयार न हुआ। बौद्ध धर्म को हमेशा के लिए 'द अदर' बनाये रखने और सांस्कृतिक संघर्ष का वातावरण बनाये रखकर समाज में हितों के टकराव समूहों को सक्रिय रखने में ही उसकी दिलचस्पी रही। 'बाँटो और राज करो' जैसे सिद्धांत का अंग्रेजों ने इस देश में न सिर्फ इस्तेमाल किया, बल्कि इस सिद्धांत की उच्च तकनीक भी उन्होंने यहीं सीखी। इस देश से बौद्धों का निर्वासन हुआ या इस देश की मूल चेतना में बौद्ध दर्शन का अंतरलयन हुआ! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं। .....पर उन्होंने निचले स्तर के आदमियों में जो प्रभाव छोड़ा था, उसमें नाम-रूप का परिवर्त्तन हुआ, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। बड़े-बड़े बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप लिया और करोड़ों की संख्या में जनता आज भी उन मठों के महंतों की पूजा करती आ रही है।' जहाँ-जहाँ बौद्ध मठों पर शैव मठों के रूप में कब्जा संभव हुआ या जहाँ-जहाँ वैदिक धर्म के परिसर में अंतर्भुक्त भागवत धर्म के रूप में प्रकट होने में सफल हो सका वहाँ-वहाँ वह नाम-रूप बदलकर जीवित रह सका। ध्यान में होना ही चाहिए कि बुद्ध के प्रभाव के कारण ही 'उपेंद्र' (विष्णु) इंद्र से बड़े हो गये! जहाँ आर्यों का प्रभाव अधिक था वहाँ बुद्ध मत को सफलतापूर्वक दबा दिया गया लेकिन जहाँ आर्यों का दबदबा नहीं था वहाँ सहअस्तित्त्व कायम हो सका। इसलिए, 'नेपाल में इन दिनों जो बौद्ध धर्म वर्तमान है, वह बहुत कुछ उसी ढंग का होना चाहिए जैसा कि किसी समय वह बंगाल और मगध में रहा होगा। नवीं और दसवीं शताब्दियों में नेपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथी योगियों का एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह संप्रदाय काल-क्रम से हिंदीभाषी जनसमुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था। कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा। सन् 1324 में तिरहुत का एक राजा मुसलमानों से खदेड़ा जाकर नेपाल में जा पहुँचा। वह अपने साथ अनेक पंडितों और ग्रंथों को भी लेता गया। उसका राज्य वहाँ बहुत दिनों तक स्थिर तो नहीं रह सका, पर उसके, द्वारा ब्राह्मण धर्म का जो बीजारोप हुआ वह आगे चलकर बहुत विकासशील सिद्ध हुआ। परवर्ती राजा जयस्थिति ने इन्हीं ब्राह्मणों की सहायता से समाज का पुनःसंगठन किया। इस प्रकार नेपाल के राजघराने के प्रयत्न से गुरखा लोग, जो वहाँ के प्रधान वाशिंदे

थे, अपने प्राचीन धर्म को फिर से ग्रहण करने में समर्थ हुए, पर नेवारी लोग बौद्ध ही बने रहे। इस नेपाली बौद्ध धर्म का प्रधान रूप है 'आदि-बुद्ध' की पूजा। आदि-बुद्ध बहुत कुछ हिंदुओं के भगवान के समान ही हैं। यह लक्ष्य करने की बात है कि नेपाल के ब्राह्मण बौद्ध धर्म को शत्रु दृष्टि से नहीं देखते। नेपाल-माहात्म्य के अनुसार जो बुद्ध की पूजा करता है वह शिव की ही पूजा करता है। इसी प्रकार नेपाली बौद्धों का स्वयंभू-पुराण पशुपतिनाथ की पूजा को बुद्ध की ही पूजा मानता है। बहुत संभव है कि काशी और मगध के प्रांतों में भी अंतिम दिनों में बौद्ध और पौराणिक धर्मों का पारस्परिक संबंध ऐसा ही रहा हो।' इस प्रकार भक्ति के साथ बौद्ध धर्म का गहरा संबंध साबित है। ऐसी स्थिति में यह मानना चाहिए कि भक्ति और धर्म में एक प्रकार का द्वंद्वात्मक रिश्ता रहा है। इस द्वंद्व को नजरअंदाज करना ऐतिहासिक विवेक का नहीं ऐतिहासिक चूक का ही उदाहरण हो सकता है।

बौद्धों का नजरिया

जहाँ तक बौद्धों की बात है, वे टकराव की मनः स्थिति में तो तब भी नहीं थे, जब उन्हें सशक्त राजसमर्थन हासिल था। डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् धर्मों की आधारभूत अंतर्दृष्टि पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'अशोक ने अपने शासन-काल के दसवें (260 ई.पू.) वर्ष में बौद्ध धर्म को अंगीकार किया था और तब से जीवन के अंत तक वह बुद्ध का अनुयायी रहा। यह उसका व्यक्तिगत धर्म था और उसने प्रजा को इस धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं किया।' आगे (नीकम एवं मैककियोन के संदर्भ से, 'एडिक्ट्स आफ अशोक', शिलालेख- 12 में अशोक की घोषणा का वे उल्लेख करते हैं। इस उल्लेख के अनुसार, 'सम्राट प्रियदर्शी इच्छा करते हैं कि सभी धर्मों के अनुयायी एक दूसरे के सिद्धांतों को जानें और उचित सिद्धांतों की उपलब्धि करें। जो इन विशिष्ट मतों से संबद्ध हैं, उनसे कह दिया जाना चाहिए कि सम्राट प्रियदर्शी उपहारों एवं उपाधियों को इतना महत्त्व नहीं देते, जितना उन गुणों की वृद्धि को देते हैं, जो सभी धर्मों के आदमियों के लिए आवश्यक है।' अपनी इस समवायी दृष्टि--- इसका प्रमाण कबीर समेत संपूर्ण निर्गुण परंपरा में आश्चर्यजनक रूप से मिलता है--- के बावजूद बौद्ध परंपरा निरंतर आक्रांत की जाती रही है! कबीरदास की तुलना में तुलसीदास को समन्वय का बहुत अधिक श्रेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिया है, लेकिन तुलसीदास और कबीरदास के समन्वय के चरित्र पर

विचार ही नहीं किया है! सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रूप से देखा जाये तो तुलसीदास के समन्वय से कबीरादस के समवाय का आकाश अधिक विस्तृत है।

आक्रांत और आक्रांता

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'जिन दिनों हिंदी साहित्य का जन्म हो रहा था, उन दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसा में बड़े-बड़े बौद्ध विहार विद्यमान थे, जो अपने मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन की विद्याओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जनसमुदाय पर अपना प्रभाव फैलाते रहे। नेपाल में तो अब भी बौद्ध धर्म किसी-न-किसी रूप में प्राप्त हो जाता है, पर अत्यंत हाल में बंगाल, उड़ीसा, और मयूरभंज की रियासत में बौद्ध गृहस्थों के दल पाये गये हैं। कहा जाता है कि जगन्नाथ का मंदिर पहले बौद्धों का था, बाद में बुद्ध मूर्त्ति के सामने किसी वैष्णव राजा ने एक दीवार खड़ी कर दी और इन दिनों जिसे जगन्नाथ ठाकुर की मूर्त्ति कहते हें वह भी बुद्धदेव के अस्थि रखने के पिटारे के सिवा और कुछ नहीं है! उड़ीसा का महिमा संप्रदाय, बंगाल के रमाई पंडित का शून्य पुराण, वीरभूमि में पाई जानेवाली धर्मपूजा आदि बातें भी आज भी इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के भग्नावशेष हैं।' यदि जगन्नाथ का मंदिर बौद्धों का था और जिसे जगन्नाथ ठाकुर की मूर्त्ति कहते हैं वह भी बुद्धदेव के अस्थि रखने के पिटारे के सिवा और कुछ नहीं है, तो इसका भी दोष क्या मुसलमानों के मत्थे मढ़ दिया जाना चाहिए! इतिहास का यह कौन-सा विवेक है, जो यह स्थापित करना चाहता है कि 'मगध और बंगाल में मुसलमानी धर्म के आक्रमण से बौद्ध और हिंदू मंदिर समान रूप से आक्रांत हुए, मंदिरों, मठों और विहारों को समान भाव से ध्वस्त किया गया। फिर भी पौराणिक धर्म बच गया, बौद्ध नहीं बच सका, क्योंकि पहले का संबंध उन दिनों समाज से था और दूसरे का केवल विहारों से।' क्या सचमुच बौद्ध धर्म का संबंध केवल विहारों से था! समाज से नहीं था! ऐसा होता तो मध्ययुग के हिंदी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित और अमिट पद-चिह्न कैसे छोड़ पाता, जिसे 'संत-साहित्य' नाम दिया गया है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'बौद्ध तत्त्ववाद, जो निश्चित ही बौद्ध आचार्यों की चिंता की देन था, मध्ययुग के हिंदी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद-चिह्न छोड़ गया है, जिसे 'संत-साहित्य' नाम दिया गया

है। .....शास्त्र-सापेक्ष भक्तों के अवतारवाद का जो रूप है, उस पर महायान संप्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं कि प्राचीन हिंदू-चिंता से उसका संबंध एकदम हो ही नहीं, पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है, वह प्राचीन चिंताओं से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, कनेडी आदि पंडितों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था! उनकी समझ में नहीं आ सका था कि ईसाई धर्म के सिवा उस प्रकार के भाव और कहीं से मिल सकते हैं, लेकिन आज शोध की दुनिया बदल गयी है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है, क्योंकि बौद्धों का अस्तित्त्व एशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है, और कुछ पंडित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये थे और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए थे! लेकिन ये आवांतर बातें हैं। मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोक धर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिंदी साहित्य में पाते हैं।

इतने विशाल लोक धर्म का थोड़ा पता भी यदि यह हिंदी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।' हिंदू शब्द और अवधारणा दोनों ही बुद्ध के बहुत बाद की वस्तु है, फिर यह 'प्राचीन हिंदू-चिंता' से क्या तात्पर्य हो सकता है! सही बात तो यह है कि जिसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पौराणिक धर्म कहते हैं, वह लोक के कारण नहीं राज के कारण बचा। बौद्धों को तो सबसे अधिक आघात पौराणिक धर्म के पुरोहितों की राजसमर्थित कूट चाल से लगा। पौराणिक धर्म और इस्लामिक सत्ता की दोहरी मार झेलकर भी बौद्ध समाप्त नहीं हो गये, बल्कि संतों और सूफियों की वाणी में अभिव्यक्त हुए। नामवर सिंह ठीक ही कहते हैं कि 'मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदु धर्म का संघर्ष।' शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व कहकर चुप हो जाने से बात पूरी नहीं हो जाती है। कहना आवश्यक है कि 'शास्त्र' का सीधा अर्थ वेद है और 'लोक' का अर्थ बुद्ध है। भक्ति साहित्य में यदि 'हतदर्प पराजित जाति' के लक्षण नहीं हैं तो इसका श्रेय निर्वासित मान लिए गये। बौद्ध मत की सामाजिक अंतःसक्रियता को मिलना चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'बिहार में बोद्ध धर्म चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जीवित था और उसका विलयन कबीरपंथ में हो गया था, यह बात मैंने अन्यत्र दिखाई है।'

भारत में इस्लामिक सत्ता के आगमन से पहले का नैतिक संघर्ष

आंबेडकर ने लक्षित किया था कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है। मुसलमानों के वर्चस्व के बाद इस संघर्ष का क्या हुआ? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी याद दिलाते हैं कि 'स्मरण रखने की बात है कि हिंदू धर्म ईसाइयों के धर्म की भाँति बड़े-बड़े मठों या चर्चों द्वारा नियंत्रित नहीं था (जैसा कि पोपों के रोमनचर्च द्वारा ईसाई धर्म नियंत्रित होता था) और न मुसलमानी धर्म के समान सामाजिक भ्रातृभाव के आदर्श द्वारा सुसंगठित ही था। असल में जिस अर्थ में मुसलमान या ईसाई धर्म है वह अर्थ हिंदू धर्म के लिए कभी लागू नहीं हो सकता। दक्षिण में शंकराचार्य और मध्वाचार्य के संप्रदायों के सुसंगठित मठ हैं, पर उनका भी प्रभाव उस जाति का नहीं है जैसा रोमन चर्च का। हिंदुओं की प्रत्येक जाति को अपने आचार-विचार को स्वतंत्र भाव से पालन करने की स्वतंत्रता थी। अगर समूची की समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्व को स्वीकार कर लेती थी तो चातुर्वर्ण्य में भी उसकी गणना कर ली जाती थी। हिंदुओं की ये जातियाँ आचार-विचार में ब्राह्मणों तथा अन्य श्रेष्ठ जातियों की नकल किया करती थीं और समय-समय पर ऊँची पदवी भी पा जाया करती थीं। हिंदुओं में धर्म परिवर्तन कराने की कोई प्रथा नहीं थी, पर इतिहास से ऐसी सैकड़ों प्रकार की जातियाँ खोज निकाली जा सकती है, जो समूह रूप में एक ही साथ ब्राह्मण धर्म में शामिल हो गयी थीं।

यह एक प्रकार से सामूहिक धर्म परिवर्तन ही होता था। तो जो बात मैं कहने जा रहा था वह यह है कि बौद्ध धर्म के लोप होने के बाद ऐसी बहुत-सी जातियाँ ब्राह्मण धर्म के अंदर आ गयी थीं। इन जातियों के आने के कारण बहुत-से व्रत, पूजा, पार्वण आदि इस धर्म में आ घुसे, जिनकी प्राचीन ग्रंथों में कोई व्यवस्था नहीं थी।' समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्व को यों ही स्वीकार कर लेती रही होगी! असल में मुसलमानों के वर्चस्व के बाद ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच के गहरे नैतिक संघर्ष को एक नया आयाम मिला। इसके कारण कुछ जातियों ने ब्राह्मण-धर्म को स्वीकार कर लिया तो कुछ ने इस्लाम को। ब्राह्मणवादियों के प्रभुत्व और मुसलमानों के वर्चस्व के दो पाटों के बीच में बौद्धवाद पिसकर रह गया! संस्कृति की इस चलती चक्की के दो पाटों में फँसने का दु:ख कबीर ने झेला था, रोया भी कम नहीं था--- 'चलती चक्की देखि

के, दिया कबीरा रोय। दुइ पट भीतर आय के, साबित गया न कोय।।' ध्यान रहे, ये वही कबीर हैं, जिनके साहित्य में बौद्ध-चेतना का 'विलयन' हुआ था!

संस्कृति के शक्तिशाली और मौलिक अंश के रूप में भक्ति साहित्य

क्या बौद्ध धर्म आज जीवित नहीं है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि बौद्ध धर्म चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जीवित था और उसका विलयन कबीरपंथ में हो गया। सही बात तो यह है कि बौद्ध धर्म आज भी जीवित है और बौद्ध धर्म के कबीरपंथ में विलीन हो जाने की बात में विलयन दर्शाने का पांडित्योचित उत्साह कुछ अधिक ही है। बौद्ध धर्म का प्रभाव जरूर कबीर साहित्य में अंतरित हुआ। यहाँ जोर देकर कहना जरूरी है कि कबीर साहित्य और कबीरपंथ के अंतर को जाने-अनजाने भुला देने से बौद्धिक विवेचन की मूल दृष्टि में ही भारी गड़बड़ी हो जाती है। बात इतनी है कि कबीर के माध्यम से भक्ति का जो स्रोत निकलता है उसके पीछे बौद्ध परंपराओं का तात्त्विक योगदान है। यहाँ यह टाँक रखना भी उचित है कि धर्म और भक्ति में बहुत अंतर है। धर्मों के रहते यदि भक्ति की जरूरत खड़ी हो गई तो दोनों के अंतर को समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। भक्ति को सीधे अर्थों में धर्म के परिसर के भीतर में समझना या धर्म के परिसर में सीमित कर देना ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों दृष्टि से घातक है। भले ही तुलसीदास ने 'अगुनहिं, सगुनहिं नहिं कछु भेदा' की घोषणा की हो लेकिन सच्चाई यह है कि निर्गुण और सगुण परंपरा में बहुत भारी भेद है। बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष भक्ति साहित्य में निर्गुण और सगुण के रूप में प्रकट हुआ। जिस प्रकार शंकराचार्य और कुमारिल ने बुद्ध चेतना को आच्छादित करने की चेष्टा की ठीक उसी प्रकार सगुणियों ने (खासकर तुलसीदास ने) निर्गुणियों की चेतना (खासकर कबीर चेतना) को आच्छादित करने की चेष्टा की। भारतीय समाज में हिंदू-मुस्लिम-संबंध पर चर्चा करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' भोपाल के राज-पुस्तकालय में मौजूद हुमायूँ के लिए बाबर के लिखे वसीयतनामे के हवाले से बताते हैं कि बाबर ने हुमायूँ को संबोधित करते हुए कहा कि 'हिंदुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम तअस्सुब से काम न लेनाय निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी घर्मों की भावना का ख्याल करना।' बाबर के लिखे वसीयतनामे का हुमायूँ ने कितना और कितनी

दूर तक पालन किया, यह अलग से विवेच्य है, लेकिन, 'एक बात की ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता है कि उस समय भी सवर्ण कवियों की वाणी में और उदात्त चेतना चाहे जितनी हो लेकिन हिंदू मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए राम और रहीम के एक होने की बात या तो है ही नहीं या बिल्कुल अप्रभावी है। यह तथ्य तब और परेशान करता है जब हम आज के भारतीय राज्य में जनतंत्र की उपस्थिति में भी लक्षित करते हैं कि हिंदू मुसलमान के बीच कटुता पैदा करनेवालों में निर्णायक स्वर सवर्णों का ही दिखता है। यह महज संयोग नहीं है। इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक संरचना के धर्मेतर प्रसंगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। परीक्षा की जानी चाहिए कि धर्म पर आधारित भारतीय राजनीति की जिस संरचना से भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को बहुत खतरा है, उस संरचना का कितना अंश सवर्ण मनोभावों से निर्मित हैं।' जिस आँख से इतिहास को देखा जाता है, उस आँख को ज्योति तो वर्तमान से ही मिलती है।

बौद्ध धर्म और भक्ति

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिंदी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया संतों की जाति-पाँति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के खंडन करने की चेष्टा में 'मुसलमानी जोश' है। किसी-किसी ने तो कबीरदास आदि की वाणियों को 'मुसलमानी हथकंडे' भी बताया है! ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी संतों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छंद और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है। इसी तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारत में प्रबल रूप धारण करता है, पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है। हम देखेंगे कि जिस समाज को ये भक्ततगण सुधारना चाहते थे, उसमें विदेशी धर्म का कोई प्रभाव उन्होंने लक्ष्य भी किया था, परंतु इन सबका अर्थ यह नहीं है कि मुसलमानी धर्म का कोई प्रभाव इस साहित्य पर नहीं पड़ा है। यह कहना अनुचित है। एक जीवित जाति के स्पर्श में आने पर दूसरी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्य के सुवर्ण-काल में भी इस प्रकार के

विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है, परंतु जिस प्रकार कालिदास की कविताओं में यावनी या ग्रीक प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक है, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में यह प्रभाव 'प्रभाव' रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।' कालिदास की कविताएँ दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक नहीं थी, न हो सकती थी, क्योंकि खुद 'कालिदास एक बौद्ध विरोधी साहित्यकार थे। इसलिए पुष्पमित्र की तारीफ में कालिदस के रघुवंश और संस्कृति (संस्कृत) के उस जमाने के तमाम साहित्यकारों के साहित्य में यह चीज भरी पड़ी है। कालिदास से लेकर भवभूति, भास, क्षेमेंद्र, भारवि आदि तमाम संस्कृति (संस्कृत) के कवियों ने मिथकों के आधार पर नाटक लिखना शुरू किया। खासकर महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर नाटकों में वैदिक दर्शन की महिमा का मंडन किया गया। इस तरह बिना बौद्ध दर्शन का नाम लिए उसका विरोध किया गया। जिस कालिदास की इतनी तारीफ की जाती है, उसने अश्वमेध के बहाने एक हिंसक दर्शन को बढ़ावा दिया।'27 भक्ति की मूल चेतना को धर्म से जोड़ दिये जाने के कारण सारी गड़बड़ियाँ हुई हैं। धर्म भक्ति का ऊपरी आवरण जरूर है, लेकिन उसके भीतर की मनो-शारीरिक संरचना समतामूलक सामाजिक अधिकार के लिए हजारों साल से चल रहे सांस्कृतिक संघर्ष के तत्त्वों से बनी है। शंकर और कुमारिल के प्रभाव में जो बुद्ध के साथ हुआ वही कबीर के साथ भी हुआ तो क्या आश्चर्य! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत निकल पड़े, पर सब पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास, आदि जितने प्रमुख संत हुए, सब ने कबीर का अनुकरण किया अपना-अपना अलग मत चलाया। ...सबने नाम, शब्द, सद्गुरू आदि की महिमा गाई है और मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जाति पाँति मिटाने का प्रयत्न किया है, परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके प्रवर्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं और उनके मतों में भी कर्मकांड घुस गया है।' कबीर के पीछे जो संतों की बाढ़-सी (बाढ़ का आना अच्छी बात तो नहीं होती है!) आ गई उस बाढ़ में सिर्फ द्विजेतर ही क्यों थे, जबकि हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रणेता द्विज ही क्यों थे! सगुण भक्ति तो हिंदू जीवन में व्याप्त थी और निर्गुण! निर्गुण क्या हिंदू

जीवन की व्याप्ति से बाहर की वस्तु थी! क्या सही ऐतिहासिक दृष्टि और जाग्रत आलोचना विवेक का निष्कर्ष है! असल में, बाढ़ तो 'सगुण भक्ति' की आई थी, जो अपने बहाव में 'निर्गुण भक्ति' की चेतना को बहाकर ले गई और छोड़ गई बाढ़ के बाद का ढेर सारा कचरा।

भक्ति आंदोलन का प्रारंभ

यह बात तो मशहूर ही है कि 'भक्ति द्राबिड़ ऊपजी, लाये रामानंद'। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दर्ज करते हैं कि 'सुदूर दक्षिण में आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्त्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं, जिनमें कम-से-कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नाम की एक महिला भी थी। इनमें से अनेक भक्त उन जातियों में उत्पन्न हुए थे, जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगों की परंपरा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण में आज की भाँति ही जाति-विचार अत्यंत जटिल अवस्था में था, फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने लिखा है, इन जाति-विचार-शासित दक्षिण देश में रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊँचा किया और देशी भाषा में रचित शठकोपाचार्य के तिरुवेल्लुअर प्रभृति भक्तिशास्त्र को वैष्णवों का वेद कहकर समादृत किया। धर्म की दृष्टि में सभी समान हैं, लेकिन समाज के व्यावहार में जाति-भेद है, इसीलिए दोनों ओर की रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक आदमी अलग-अलग भोजन करेगा, क्योंकि जाति-पाँति का सवाल तो पंक्ति-भोजन में ही उठता है। इसी को दक्षिण में 'तेन कलाई' या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बात को कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पंद्रहवीं शताब्दी में वेदांतदेशिक ने वेदवाद और प्राचीन रीति को पुनः प्रवर्त्तित किया। इसी को वेदवाद या 'वेद कलाई' कहते हैं। 'तेन कलाई' वालों ने विवाह में होम और विधवा का मस्तक-मुंडन आदि आचार छोड़ दिये थे। किंतु वेदांतदेशिक ने पुनर्वार इन आचारों को जीवित किया। स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी जनसाधारण की चीज था, जो क्रमशः शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। यह हम ठीक से नहीं कह सकते कि पुराने आलवार भक्तों ने इस भक्तिवाद को कहाँ तक दार्शनिक रूप दिया है।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यह तो ठीक कहते हैं कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी (यह 'भी' महत्त्वपूर्ण होने के कारण अतिरिक्त रूप से ध्यान देने योग्य है) जनसाधारण की चीज था, लेकिन साथ

ही यह कहना ठीक नहीं है कि सारे भारत वर्ष में फैलने के पीछे शास्त्रों का सहारा था, क्योंकि जो भक्ति मतवाद जनसाधारण की चीज था उस भक्ति मतवाद का अ-साधारणजनों के शास्त्रों से द्वंद्वात्मक और टकराव का रिश्ता था। शास्त्रों ने 'तेन कलाई' को पुनर्वार 'वेद कलाई' में बदल दिया, यह तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी बताते हैं, जो शास्त्र खुद लोक भूमि पर प्रतिष्ठित होने के लिए प्रयासरत था वह लोकमत को क्या सहारा देता! कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सत्य के बहुत करीब पहुँचकर भी सत्य से मुहँ फेर लेते हैं। शास्त्रीय संस्कार को इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक का अवरोधक मानने के अतिरिक्त इसकी अन्य क्या व्याख्या हो सकती है, कहना मुश्किल है। ऐसी जगहों पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचनात्मक विवेक मतिहारा हो जाता है और उनकी इतिहास दृष्टि युगों से संचित संस्कार के सामने जुआ पटक देती है। शोध और अनुसंधान की दृष्टि से मूल्यवान होने के बावजूद उनके मूल्य-निर्धारण में कहीं कुछ महत्त्वपूर्ण छूट जाता है, जिसकी भरपाई कठिन हो जाती है। कबीरदास और तुलसीदास के तुलनात्मक विवेचन में संस्कारों की लदनी से हुई आलोचना विवेक की क्षति तो बहुत साफ-साफ महसूस की जा सकती है।

धर्म, भक्ति और साहित्य

हिंदी साहित्य का इतिहास और आलोचना प्रारंभ से ही धर्म और भक्ति के अंतर को नजरअंदाज करती आई है एवं दोनों को एक दूसरे का पर्याय मानकर विवेचन करती आई है। इस आधार पर होनेवाले विवेचन में स्वाभाविक रूप से असंगतियों के लिए अवकाश रह जाता है। 'भक्ति' और 'धर्म' में अंतर है, 'लेकिन, दिक्कत यह है कि हिंदी आलोचना के मनोभाव में शुरू से ही 'भक्ति' और 'धर्म' पर्याय की तरह अंत:सक्रिय रहे हैं। इस अंत:सक्रियता के ऐतिहासिक आधार भी रहे हैं। हिंदी आलोचना को भक्ति काल के साहित्य के अध्ययन के क्रम में इस कठिन सवाल से जूझना अभी बाकी है कि क्या धर्म और भक्ति एक ही चीज है?

भक्ति और धर्म

वस्तुत:, 'भक्ति' 'धर्म' के परिसर में 'अंतर्धार्मिक' और 'धर्मातीत' अंतर्वस्तु का अंत:संयोजन कर 'धर्म' को पूरी तरह बदल देने का काम करती

है! अगर ऐसा नहीं है तो 'धर्मों' के रहते 'भक्ति' के सामाजिक उद्‌भव की ऐतिहासिक जरूरत की व्याख्या किस तरह की जा सकेगी! ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'धर्मों' में 'कर्मों' पर नहीं 'कर्मकांडों' पर जोर था, 'प्रेम' पर नहीं 'नेम' (नियम) पर जोर था। हिंदू धर्म में ईश्वर 'राजनारायण' है, जबकि 'भक्ति' में ईश्वर 'प्रेमपरायण' है। 'भक्ति' का सामाजिक उद्‌भव निर्विशिष्ट ईश्वर और मनुष्य के प्रति अगाध-अबाध और सकर्मक प्रेम की ऐतिहासिक जरूरत से हुआ था। प्रेम के मूल स्वरूप को समझने से बहुत सारी गुत्थियाँ खुल सकती हैं। इतिहास गवाह है कि इस प्रेम-तत्त्व के कारण 'सभ्यताओं के संघात' की आशंकाएँ 'सभ्यताओं के अंतर्मिलन' की संभावनाओं में बदलती रही है, लेकिन यह प्रेम-तत्त्व इतना सहज नहीं है। सभ्यता के विकास में आनेवाले परिवर्त्तनों के संदर्भों को भी इस समझ से खोला जा सकता है। कबीरदास का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए। कबीरदास भक्त थे, उनकी भक्ति के तात्त्विक स्वरूप पर काफी चर्चा हुई है, उनके रहस्य-बोध पर भी चर्चा हुई है, जरूरत है उनकी भक्ति-चेतेना को उनके सामाजिक-प्रेम के प्रसंग में 'डि-कोड' करने की। प्रेम अभिन्नता की ओर बढ़ने का मौलिक आधार है। भिन्नता अंधकार है। प्रेम प्रकाश है। प्रेम के प्रभाव में भिन्नता वैसे ही गायब हो जाती है, जैसे– प्रकाश के प्रभाव में अंधकार गायब हो जाता है। 'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाँहि। सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि।।' 'प्रेम गली' इतनी सँकरी होती है कि इसमें दो भिन्न के लिए जगह नहीं होती है। 'हँमारै राँम रहीम करीमा केसो, अलाह राम सति सोई। बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।' 'राम' और 'रहीम', 'करीम' और 'केशव' के अभिन्न माने जाने के आग्रह में निहित मूल बात यह है कि उनको माननेवाले लोग अभिन्न हैं। धर्म और ईश्वर की अभिन्नता का विचार असल में मनुष्य की अभिन्नता का विचार होने के कारण ही सार्थक होता है। मनुष्य का मनुष्य से ही नहीं, समस्त सचराचर से मनुष्य की अभिन्नता का विचार ही प्रेम है। इसलिए प्रेम में 'वे' और 'हम' की नहीं सिर्फ 'हम' की ही गुंजाइश बनती है। प्रेम सामाजिक समूहन की भिन्नताओं को अभिन्नताओं में बदलने का सबसे बड़ा आधार है। कबीरदास के साहित्य को प्रेम के इस संदर्भ में समझने की कोशिश की जा सकती है। कबीर की पीड़ा यह है कि अभिन्नता हासिल करने के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट उलझानेवाले लोगों और विचारों की तरफ से खड़ी की जाती है, ऐसे लोगों से अभिन्नता कैसे हो सकती है?'

कबीर का किया

कबीर की भक्ति ने धर्म के स्वरूप को बदल दिया था। धर्म को सामंतवाद से प्राणरस मिलता आया है, लेकिन भक्ति तो सामंती मूल्य और मिजाज से टकराकर ही विकसित हुई थी। धर्म और भक्ति में टकराव का यह ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आधार, परिप्रेक्ष्य और महत्त्व है। 'संतों के लोकधर्म का महत्त्व क्या है? संतों का लोकधर्म सामंती व्यवस्था को दृढ़ नहीं करता है, वरन् उसे कमजोर करता है। सामंती व्यवस्था में धरती पर सामंतों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा। खास तौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है। वर्ग-युक्त समाज में बहुधा सामाजिक संघर्ष धार्मिक रूप ले लेते हैं।' मनुष्य के प्रति प्रेम भक्ति के मूल में है।

भक्ति के मूल में धार्मिक शोषण--- जो सामाजिक और आर्थिक-शोषण का आधार प्रदान करता है, का जबर्दस्त प्रतिरोध है। यहाँ, 'इस बात को भुला देना कि मानव जाति पर लदा धर्म का जुआ समाज के अंतर्गत लदे आर्थिक जुए का ही प्रतिविंब और परिणाम है, पूँजीवादी संकीर्णता होगी।' इसलिए 'मानव जाति पर लदे धर्म के जुए' में किसी भी तरह के बदलाव की माँग और प्रयास के आशय का स्वाभाविक प्रसार 'आर्थिक जुए' में बदलाव की माँग और प्रयास को भी अंतर्ध्वनित करता है। धर्म के 'ईश्वर' का ठिकाना मसजिद, काबा, कैलास है, भक्ति का 'ईश्वर' कहता है, 'मोकों कहाँ ढूढ़े रे बंदे, मैं तो तेरे पास में। ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में। ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।' जाहिर है, इस मान्यता से 'धर्म परायण जनता' और 'ईश्वर' के बीच हिंदू-मुस्लिम पुरोहित-समूह को जोरदार धक्का लगना स्वाभाविक था, जिसे धक्का लगेगा, वह मारने तो दौड़ेगा ही, 'साधो, देखो जग बोराना। साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।

हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।' ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'निर्गुण' और 'सगुण' का विवाद 'धर्म' और 'भक्ति' के परिसर में पुरोहितवाद और सामंतवाद के कारण उत्पन्न हुआ। कहना न होगा कि पुरोहितवाद, जिस सामंतवाद का धार्मिक रूप है वर्णव्यवस्था उसी सामंतवाद का सामाजिक रूप

है। ऐतिहासिक अनुभव के आलोक में माना जाना चाहिए कि सामंतवाद से सीधी लड़ाई के लिए ही, 'भक्ति' पुरोहितवाद और वर्णव्यवस्था से लड़ते हुए ईश-प्रेम के आवरण में निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति अपने अगाध एवं अबाध प्रेम के साथ विकसित हुई। 'भक्ति' के मर्म में कोरी भावुकता और आध्यात्मिक रहस्य ही नहीं सामाजिक यथार्थ की क्रूरता को मानवीय बनाने की अकुंठ सांस्कृतिक आकांक्षा भी अंतर्निहित है। क्या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक में यह जनाकांक्षा क्या बिल्कुल ही नहीं झलक पाई होगी!

बौद्ध, इस्लाम और हिंदुत्व

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रेखांकित किया है कि 'इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि सन् ईसवीं की सातवीं शताब्दी में युक्तप्रांत, बिहार, बंगाल, आसाम और नेपाल में बौद्ध धर्म काफी प्रबल था। यह उन दिनों की बात है जब इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद का जन्म ही हुआ था। बौद्ध धर्म के प्रभावशाली होने का सबूत चीनी यात्री हुएनत्सांग के यात्रा-विवरण में मिलता है। यह भी निश्चित है कि वह बौद्ध धर्म महायान संप्रदाय से विशेष रूप से प्रभावित था, क्योंकि उत्तरी बौद्ध धर्म यदि हीनयानीय शाखा का भी था तो भी महायान शाखा के प्रभाव से अछूता नहीं था। सातवीं शताब्दी के बाद उस धर्म का क्या हुआ, इसका ठीक विवरण हमें नहीं मिलता, पर वह एकाएक गुम तो नहीं हुआ होगा। उस युग के दर्शन-ग्रंथों, काव्यों, नाटकों आदि से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ईसा की पहली सहस्राब्दी में वह इन प्रांतों में एकदम लुप्त नहीं हो गया था। इधर हाल में जो सब प्रमाण संगृहीत किये जा सके हैं उन से इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि मुसलमानी आक्रमण के आरंभिक युगों में भारतवर्ष से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन प्रदेशों के धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर इस धर्म ने जो प्रभाव छोड़ा है, वह अमिट है, लेकिन जब मैं ऐसा कहता हूँ तो 'प्रभाव' शब्द का जो अर्थ समझता हूँ, उसको ध्यान में रखना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि हिंदीभाषी प्रदेश का जन-समुदाय उन दिनों बौद्ध था। वस्तुतः सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध था या नहीं, यह प्रश्न काफी विवादास्पद है। कारण यह है कि बौद्ध धर्म संन्यासियों का धर्म था, लोक के सामाजिक जीवन पर उसका प्रभुत्व कम ही था।' बौद्ध धर्म काफी प्रबल था, इन प्रदेशों के धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर इस धर्म ने जो प्रभाव छोड़ा उसके अमिट होने की बात सच है तो, फिर

यह कहने का क्या अर्थ है कि लोक के सामाजिक जीवन पर उसका प्रभुत्व कम ही था? लोक के सामाजिक जीवन पर प्रभुत्व कम होने पर उसका प्रभाव अमिट कैसे हो सकता है? आचार्य जानते थे कि इस तरह के सवाल उठ सकते हैं, इसलिए उन्होंने 'प्रभाव' शब्द के अर्थ को बड़ी सावधानी के साथ परिभाषित करने की चेष्टा भी की है! वे कहते हैं कि सारा समाज किसी दिन बौद्ध था कि नहीं यह विवादास्पद है। इस विवाद में आचार्य का मत यह है कि सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध नहीं था। यह सच हो भी तो क्या फर्क पड़ता है? सारा समाज तो किसी दिन हिंदू भी नहीं था! वे यह स्थापित करते प्रतीत होते हैं कि मुसलमानी आक्रमण के आरंभिक युगों में भारतवर्ष से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी और बाद के दिनों में यह समाप्त हो गया तो इसका दोष मुसलमानी आक्रमण को जाता है! मुसलमानी आक्रमण तो पौराणिक धर्म पर भी था, लेकिन वह बच गया, बौद्ध नहीं बचा, क्यों? क्योंकि आचार्य के अनुसार पौराणिक धर्म का संबंध समाज से था और बौद्ध धर्म का संबंध विहारों से था! क्या सचमुच ऐसा ही था और इसीलिए बौद्ध नहीं बचा! क्या यहाँ समाज का ध्वन्यार्थ राज्य-सत्ता नहीं है!

साहित्य और धर्मः साहित्य का धर्म और धर्म का साहित्य

हिंदी आलोचना के प्राणपुरुषों के बीच साहित्य और धर्म के संबंधों को लेकर काफी असमंजस की स्थिति रही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'धर्म' और 'भक्ति' में कोई अंतर नहीं करते हैं। वे पूछते हैं 'रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं तो क्या हैं?' धर्म का उद्‌भव एक ऐतिहासिक परिस्थिति में हुआ था। भक्ति काव्य का उद्‌भव एक भिन्न ऐतिहासिक परिस्थिति में हुआ। धर्म का मुख्य संबंध कर्मकांड से होता है। भक्ति का मुख्य संबंध जीवनबोध से होता है। धर्म और भक्ति यदि एक ही होते तो धार्मिक कर्मकांड में भक्ति साहित्य का उपयोग होता। पता नहीं किस धार्मिक कर्मकांड में भक्ति साहित्य का उपयोग होता है। हाँ विभिन्न धार्मिक अवसरों पर भजन-कीर्त्तन के रूप में भक्ति साहित्य का उपयोग और कुछ हद तक जुड़ाव भी होता आया है। इससे किसी भ्रम की गुंजाइश नहीं बननी चाहिए, क्योंकि भजन-कीर्त्तन उत्सव का हिस्सा होते हैं, कर्मकांड के नहीं। विभिन्न धार्मिक अवसरों पर उत्सव के उपकरण बदल जाते हैं, मंत्र नहीं! आजकल तो धार्मिक अवसरों पर फिल्मी गीत अधिक गाये-बजाये जाते हैं, तो क्या इस कारण से उन

गीतों को धार्मिक मान लिया जायेगा! रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं हैं, भक्ति काव्य हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आगे कहते हैं 'इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।'38 धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं है, यह बात एक ऐतिहासिक परिस्थिति में ही सही हो सकती है। भक्ति काव्य का उद्‌भव जिस ऐतिहासिक परिस्थति में हुआ था, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उससे भिन्न ऐतिहासिक परिस्थिति में अपना काम कर रहे थे। यही कारण है कि भक्ति काल में 'धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश' से संबद्ध महान रचनाएँ तो उनकी साहित्यिक आलोचना का विषय बनती है, लेकिन उनके अपने समय में सृजित 'धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश' से संबद्ध कोई रचना उनकी आलोचना का आधार विषय नहीं बनती है! धर्म और भक्ति में अंतर नहीं होता तो सारे प्रवचनकर्त्ता और कथावाचक अलोचकों की श्रेणी में गिने जाते! गड़बड़ी धर्म और भक्ति को एक मानकर चलने के कारण हुई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं 'केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा, और जायसी को भी दूर से दंडवत करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है।' यहाँ विनम्रता के साथ लेकिन दृढ़तापूर्वक कहना जरूरी है कि मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना नहीं रही है। मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्म के सामाजिक संजाल से मुक्ति की आकांक्षा और भक्ति साधना रही है, जिसे नामवर सिंह शास्त्र और लोक के द्वंद्व के रूप में पहचानते हैं। यदि, मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है तो 'भक्तिकाल' का नामकरण सीधे 'धर्मकाल' ही क्यों नहीं कर लिया गया? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तो यह भी कहते हैं कि 'धार्मिक अनुयायियों के अभाव में अनेक बौद्ध कवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है। अश्वघोष के टक्कर के कवि भी उपेक्षावश भुला दिये गये हैं।' क्या अश्वघोष को भुला दिया जाना सिर्फ 'धार्मिक अनुयायियों' की क्षति है! 'धार्मिक अनुयायियों' का अभाव कैसे हुआ, अश्वघोष की उपेक्षा के ऐतिहासिक कारणों

को क्या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचना विवेक की खींची हुई इस सरल रेखा में समझा जा सकता है! साहित्य तो मूलत: उनका ही आश्रय रहा है, जिनके लिए 'वेद' अलभ्य था--- 'न वेद व्यावहारोयं संश्राव्यरू शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सावणार्णिकम।' इसी तरह भक्ति भी मूलत: उन्हीं का आश्रय थी, जिनके लिए धर्म में कोई समुचित जगह नहीं थी!

आलोचना का विवेक

कबीरदास का आविर्भाव उस समय हुआ था, जब भारत एक भिन्न प्रकार के राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सबसे बढ़कर सामाजिक संक्रमण, संघात, समन्वय और समवाय से गुजर रहा था। किसी भी समाज में संक्रमण, संघात, समन्वय और समवाय इतिहास, वर्त्तमान और भविष्य के अंतर्विरोधों से मुक्त नहीं होता है। इन अंतर्विरोधों के कारण इतिहास के प्रत्येक दौर में पहले के संश्लेषण और विश्लेषण की आख्याओं और व्याख्याओं में अंतर्विरोधों के नये सिरे से उभरकर आने की भरपूर गुंजाइशें रहती हैं तो भविष्य में होनेवाले संश्लेषण और विश्लेषण के बीज भी होते हैं। इसलिए पहले किये जा चुके संश्लेषणों, विश्लेषणों, आख्याओं और व्याख्याओं के किसी प्रसंग को अंतिम मानने का हठ-विचार आलोचना के परिसर के बाहर की चीज है, धर्म, राजनीति, वैयक्तिक-सामुदायिक हितों के परिसरों में ऐसे हठ-विचारों और पूर्वग्रहों का चाहे जो महत्त्व हो, आलोचना के लिए इनका असर अनर्थकारी ही होता है। आलोचना का काम तो किसी भी दौर में संश्लेषण, विश्लेषण और व्याख्याओं के कारण उभरे अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने की प्रतिज्ञा से अनिवार्यत: प्रतिबद्ध होता है। इस दृष्टि से, आलोचना के किसी भी सार्थक काम को अपने पूर्ववत्ती प्रयासों पर पैनी नजर बनाये रखकर, हरबार शुरू से ही शुरू करना पड़ता है।

कबीर का हिंदी पाठ

कम-से-कम बुद्ध के समय से राज-संपोषित शास्त्र और समाज-समर्थित लोक का गहन द्वंद्व भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक अंतर्धाराओं में विद्यमान मिलता है। इस द्वंद्व को इस्लामिक संस्कृति एवं सत्ता के संपर्क से नया आयाम मिला। इस बार शास्त्र और लोक के बीच के द्वंद्व का क्षेत्र बदल गया था द्वंद्व के क्षेत्र का यह बदलाव साधारण नहीं, बल्कि चारित्रिक और तात्त्विक था---

और इसके मूल में था सत्ता का बदलाव। ध्यान देने पर यह बात तुरंत साफ हो जाती है कि इस्लामिक संस्कृति और सत्ता से संपर्क और कई मामलों में संघात एवं सहमेल के पहले लोक को शास्त्र अपने अंदर समाहित कर उसे बदल देने में कामयाब होता आया था, जबकि इस्लामिक संस्कृति और सत्ता से संपर्क, संघात एवं सहमेल के बाद ठीक इसके विपरीत खुद शास्त्र को लोक के परिसर में प्रवेश करने की अनिवार्यता का सामना करना पड़ा। इस अनिवार्यता की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में कबीर का योगदान अनन्यतम था। भक्ति का स्वाभाविक और प्रारंभिक पथ 'निर्गुण', अर्थात कबीर का पथ था। 'सगुण' का पथ प्रतिक्रियात्मक तो था लेकिन पूर्ण व्याघाती नहीं था। समझा जा सकता है कि 'सगुण' का पथ भक्ति के स्वाभाविक पथ में विचलन तो था, लेकिन इस विचलन के बावजूद 'सगुण' अंततः भक्ति का ही पथ था। यहाँ इतना स्मरण कर लेना आवश्यक है कि 'निर्गुण' भक्ति ने धर्म में पुरोहित के जिस स्थान को निरर्थक बना दिया था 'सगुण' भक्ति ने प्रकारांतर से पुरोहित के उस स्थान को बहाल करने की पीठिका रचने का काम किया। जिस प्रकार 'निर्गुण' का चरम रूप कबीर में प्रकट हुआ था, उसी प्रकार 'सगुण' का चरम रूप तुलसी में प्रकट हुआ। कबीर और तुलसी के बीच की बहस कोई साधारण बहस नहीं है, इसे भारतीय संस्कृति के विस्तृत प्रवाह में निहित, 'विरुद्धों के युग्म' में निहित ऐतिहासिक तनाव के रूप में समझना चाहिए। तुलसीदास की सांस्कृतिक उपस्थिति ने अपने समन्वयवादी रुझान के कारण इस 'युग्म' के 'विरुद्धों' को अदृश्य बना दिया, औपनिवेशिक सत्ता के जड़ जमाने के साथ ही अदृश्यीकरण की इस प्रक्रिया का एक चक्र पूरा हुआ। हिंदी के सामान्य परिदृश्य से निर्गुण कबीर अदृश्य होते गये! यह हिंदी का सामान्य परिदृश्य था, सामान्य भारतीय परिदृश्य नहीं था। सामान्य हिंदी प्रदेश के बाहर, बंगाल जहाँ नवजागरण की आँच तेज हो रही थी, कबीर की निर्गुण आभा नये सिरे से प्रदीप्त हो उठी थी। शांतिनिकेतन जाकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को भी इस आभा का परिचय मिला! 'द्विवेदीजी के शांतिनिकेतन पहुँचने से काफी पहले रवींद्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से आचार्य क्षितिमोहन सेन वाचिक परंपरा में प्राप्त कबीर के वचनों का संग्रह करके 1910 में चार भागों में उनका सटीक प्रकाशन करवा चुके थे। फिर रवींद्रनाथ ने स्वयं भी इनमें से सौ पद चुनकर अंग्रेजी में अनुवाद किया और एवलिन अंडरहिल की भूमिका के साथ लंदन से 'वन हंड्रेड पोएम्स आफ कबीर' (1914) शीर्षक से प्रकाशित करवाया था। द्विवेदीजी के लिए ये दोनों

ही सजीव प्रेरणाएँ सुलभ थीं। इसलिए इस अनुमान के लिए ठोस आधार है कि व्यापक क्षेत्र में इतनी ख्याति मिलने पर भी स्वयं अपने ही घर में कबीर को उपेक्षित पाकर द्विवेदीजी कबीर के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। यह अप्रासंगिक नहीं कि द्विवेदीजी का 'कबीर' आचार्य क्षितिमोहन सेन को समर्पित है।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जब कबीर के हिंदी पाठ से विश्वविद्यालय के छात्रों को समृद्ध करना चाहते थे तो उन्हें इस बात के लिए उन लोगों की कुत्सा का शिकार बनना पड़ा, जो कबीर की इस नई आभा के वास्तविक प्रभविष्णुता से परिचित ही नहीं थे, तो क्या आश्चर्य! 'बात-बात में मुझे शांतिनिकेतन और रवींद्रनाथ को लेकर ताना दिया जाता था, कुछ इस ढंग से मानो उदार होना या सार्वभौम दृष्टि रखना कोई बहुत बड़ा अपराध हो। काशी विश्वविद्यालय में मैंने कबीर पढ़ाना शुरू किया तो एक मित्र कुलपति से शिकायत कर आये कि जिस विभाग में तुलसीदास से पढ़ायी शुरू होती थी, उसमें कबीर से शुरू होने लगी है।' ऐसे माहौल में आचार्य को अपना काम करने की लाचारी थी! तुलसीदास उनके प्रिय थे और कबीर अनुल्लंय! कहना न होगा कि प्रियता का निधार्रण हृदय अर्थात संस्कारों से होता है, अनुल्लंयता बौद्धिकता से तय होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को विश्वविद्यालय के आचार्यों ने वैसे ही नहीं समझा जैसे एक समय काशी के ब्राह्मणों ने खुद तुलसीदास को नहीं समझा था! लेकिन आचार्य तो कबीर को समझ रहे थे!

समाज सुधार

साहित्य और समाज के रिश्ते पर ढेर सारी बहस है। साहित्य समाज सुधार का साधन हो सकता है कि नहीं, या यह कि समाज सुधार में साहित्य की कोई सचेत भूमिका बनती है कि नहीं, या यह कि समाज परिवर्त्तन में साहित्य और साहित्यकारों की कोई भूमिका होती भी है या नहीं--- साहित्यकरों में इन बातों को लेकर काफी विवाद रहा है। तमाम बहसों के बीच में विचारधारा के सवाल भी किसी-न-किसी रूप में बने रहते हैं। यह मानने में मुझ जैसे लोगों को कोई असुविधा नहीं होती है कि साहित्य में मानवीय संबंधों की, भावनाओं की, जीवन-स्थितियों की, गरिमा की, अपेक्षाओं की अंतर्वैयिक्तक अभिव्यिक्तयों के लिए पर्याप्त जगह होती है और इसीलिए साहित्य की सामाजिक भूमिका भी पर्याप्त होती है। कबीरदास के साहित्य में पुरोहितों और मौलवियों को संबोधित करते हुए जो बातें कही गई हैं, उन बातों को पुरोहितों और मौलवियों तक सीमित

मान लेना कत्तई उचित नहीं हो सकता। सही बात तो यह है कि पुरोहित और मौलवी तो माध्यम थे। संबोधन का असली लक्ष्य तो वे संस्थाएँ और वह समाज-व्यवस्थाएँ थी, जिनको पुरोहितों और मौलवियों से बहुविध सामाजिक मान्यताएँ और वैधताएँ मिलती थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिन से (अगर उपयोग किया जाये तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुत: वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना, परंतु आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है, वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अंतर संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे।' स्पष्ट है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर की बातों से समाज सुधार में सहायता मिलने की संभावनाएँ तो देखते हैं, लेकिन कबीर को समाज सुधारक मानने से वे हिचक जाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार कबीर व्यष्टिवादी थे, समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था, वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे! तो फिर व्यक्तिगत साधना के अन्य प्रचारकों से कबीर भिन्न कहाँ थे और भिन्न नहीं थे तो समाज सुधार के लिए उनकी बातों के उपयोगी होने का आधार क्या था! यदि 'सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है' तो भी वह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार बहुत काम की चीज नहीं ठहरती है क्योंकि 'आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था'! भाव में अ-भाव, स्वीकार में अस्वीकार--- यही तो है माया! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी संस्कृति की चारित्रिक विशेषता की अवधारणा को सामने लाते हैं और उनका अलोचना विवेक तदनुसार हिंदी संस्कृति के अंतर्गत कबीर का स्थान तय करने लग जाता है। क्या है हिंदी संस्कृति की चारित्रिक विशेषता? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'अगर आप भारत वर्ष के मानचित्र में उस अंश को देखें, जिसकी साहित्यिक भाषा हिंदी मानी जाती है तो आप देखेंगे कि यह विशाल क्षेत्र एक

तरफ तो उत्तर में भारतीय सीमा को छुए हुए है, जहाँ से आगे बढ़ने पर एकदम भिन्न जाति की भाषा और संस्कृति से संबंध होता है और दूसरी तरफ पूरब की ओर भी भारतवर्ष की पूर्व सीमाओं को बनानेवाले प्रदेशों से सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिण में भी वह एक ही संस्कृति पर भिन्न प्रकृति के प्रदेशों से सटा हुआ है। भारतवर्ष का ऐसा कोई भी प्रांत नहीं है, जो इस प्रकार की चौमुखी संस्कृति से घिरा हुआ हो। इस घिराव के कारण उसे निरंतर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के संघर्ष में आना पड़ा है। पर जो बात और भी ध्यानपूर्वक लक्ष्य करने की है, वह यह है कि यह 'मध्यदेश' वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पवित्र्याभिमानी रहा है। एक तरफ तो भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरंतर संघर्ष ने और दूसरी तरफ रक्षणशीलता और श्रेष्ठतत्त्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में इन दो बातों को बद्धमूल कर दिया है--- एक अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना, और दूसरे धर्मों, मतों, संप्रदायों और संस्कृतियों के प्रति सहनशील होना।' अर्थात 'अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना'! समाज सुधार की बात स्वीकारने के लिए 'विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना' काफी नहीं होता है, प्राचीन आचारों से छुटकारा भी पाना होता है। नवाचारों को स्वीकारे बिना पुनर्नवा भी कैसे हुआ जा सकता है! 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता मान लेने पर साहित्य की नजर से समाज में न तो कुछ असंगत बचता है, न अन्यायपूर्ण! फिर साहित्य की नजर में समाज सुधार का महत्त्व ही क्या हो सकता है! तो जो विचार और साहित्य इस 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को नहीं मानता है, उसे भारतीय मानने में ही झिझक स्वाभाविक है! 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता मान लेने का कोई तात्त्विक आधार नहीं हो सकता। सही बात तो यह है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक संघर्ष का बहुत बड़ा भाग 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' की मिथ्याचारिता के विरोध में ही सक्रिय रहा है। कबीर जैसे निर्गुण संत जब जन्म को ही गुण का आधार नहीं मानते थे तो 'पुनर्जन्म' को कौन पूछे! इस अर्थ में गीता का 'निष्काम कर्म' जो जन्म, जीवन, मरण और पुनर्जन्म की तर्कशृँखला से अपना 'ज्ञानयोग' रचता है, कबीर जैसे निर्गुण संत के लिए अमान्य है। 'जात' जन्म से तय होता है, वे 'जात' को नहीं 'ज्ञान' को महत्त्व देते हैं--- 'म्यान' को नहीं 'तलवार' को महत्त्व देते हैं, 'जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान। मोल करो तलवार

का पड़ा रहन दो म्यान।।' बड़ी बात यह कि 'ज्ञान' को महत्त्व देते हुए भी अपने समय में चल रही 'ज्ञान की आँधी' से भी सावधान करते हैं! 'संतौ भाई आई ग्याँन की आँधी रे। भ्रम की टाटी सबै उंड़ानींय माया रहे न बाँधी।।'48 हाँ, तुलसीदास जैसे सगुण भक्त 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को न सिर्फ सच मानते थे, बल्कि अपने माने हुए इस 'सच' की सामाजिक वैधता को बनाये रखने के लिए प्रयासरत एवं संघर्षशील भी थे। आचार्यगण इसी प्रयास एवं सांस्कृतिक संघर्षशीलता के आधार पर उनके साहित्य के सामाजिक महत्त्व का निरूपण करते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक खुद की तय की हुई 'भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता' के साथ हो लेता है तो क्या आश्चर्य!

हिंदू मुस्लिम एकता

मध्यकाल के समाज में जिस भावना की सर्वाधिक जरूरत थी वह थी--- हिंदू मुस्लिम एकता। इस भावना की जरूरत तब से लेकर आज तक बनी हुई है। जाहिर है साहित्य में इस भावना की जितनी जरूरत कबीरदास के समय में थी उससे कम जरूरत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भी नहीं थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'जो लोग हिंदू-मुस्लिम एकता के ब्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी संप्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी और ने नहीं किया, पर जो लोग उत्साहधिक्यवश कबीर को केवल हिंदू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरूप को भूलकर उसके एक-देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं', तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिंदु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही नहीं थे, उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवदविश्वास। दोनों धर्म समान-रूप

से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है, बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण उँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है।' क्या विचित्र स्थापना है कि अगर किसी दिन हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो कबीर के इसी रास्ते हो सकती है फिर भी कबीर को हिंदू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेना कबीर के मूल-स्वरूप को भुला देना है! कुछ लोग पैगंबर ही मान लेते हैं तो क्या है, मान लेने देने में परेशानी क्यों! परेशानी तो है! यदि भक्ति और धर्म में अंतर नहीं होता तो, जिन तत्त्वों को धार्मिक लोग श्रेष्ठ मानते हैं भक्त उन तत्त्वों की खिल्ली क्यों उड़ाता! भक्ति में निष्कंप विश्वास के साथ अटूट तार्किकता के लिए भी काफी जगह होती है, धर्म अपना काम विश्वास (अंधा) के बल पर करता है! भक्ति आँखिन देखी की महिमा को जानती है, जानती ही नहीं बखानती भी है। कबीरदास ने रोग का ठीक निदान भी किया था, औषध-निर्वाचन और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में भी कोई गलती नहीं की थी। बस समझदारों ने विष पर 'औषध' और पथ्य पर 'अपथ्य' का लेबल चिपका दिया! कबीरादस संत थे और जाहिर है कि वे 'उस बिंदु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही नहीं थे जिस बिंदु से 'धार्मिक लोग' देखते थे, तभी तो यह बात भी सामने आती है कि 'आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है, वह कबीर में एकदम नहीं था'! इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर का, कहा जाए तो भक्ति के निर्गुण तत्त्व का, सामाजिक ही नहीं 'धार्मिक' दृष्टि-बिंदु भी भिन्न था। अपने समय में इतिहास के अनसुने सवालों को सुनने और ठीक से समझने एवं 'औषध' और 'अपथ्य' के सही निर्वाचन की अपेक्षा तो आलोचना विवेक से की ही जानी चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की बात तो अपनी जगह, दु:खद यह है कि आज भी हिंदी आलोचना का विवेक इतिहास के अनसुने सवालों को मन से सुनने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है, 'औषध' और 'अपथ्य' के सही निर्वाचन की तो बात ही क्या! क्या यही नहीं है 'उपसंहार' में निहित संहार का सच!

कबीरदास और तुलसीदास

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के बारे में जो बातें कही है उसे अलग से देखने पर उनके आलोचना विवेक पर कोई संदेह हो सकता है, नहीं!

तो फिर, 'साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' के साहित्य को 'फोकट का माल' कहने की क्या विवशता रही होगी! 'कविता लिखने की प्रतिज्ञा' के साथ तो तुलसीदास भी 'साहित्य के मैदान' में नहीं आये थे! फिर ऐसा कैसे हो गया कि कबीर का साहित्य 'फोकट का माल' हो गया और तुलसीदास का साहित्य 'अनमोल रतन' हो गया! कैसे!

साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीरदास के महत्त्व को खूब जानते थे। उन्हीं के शब्दों में 'वे (कबीरदास) साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा। संस्कृत के 'कूप-जल' को छुड़ाकर उन्होंने भाषा के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत बहुत-सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।' साधना और साहित्य का ऐसा मेल न तो कबीर के पहले और न कबीर के बाद ही कहीं मिलता है। जब नाम जाप तथा हजार और लाख बार के नाम जाप का महत्त्व बताया जा रहा था, कबीर साफ-साफ कहते थे--- 'पंडित बाद बदंते झूठा। राम कह्यां दुनिया गति पाबै, षाँड कह्याँ मुख मीठा।। पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई। भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई।। ऐसे कबीर की साधना और साहित्य को सिर्फ आध्यात्मिक मिजाज से समझ पाना मुश्किल नहीं असंभव ही माना जा सकता है।

'वाद-विवाद-संवाद' चिंतन की स्वाभाविक पद्धति है, यह कबीर के समय में ज्ञात था या नहीं यह तो विवाद का विषय हो सकता है, लेकिन ज्ञानियों के चक्कर में पड़ने से चिंतन की इस स्वाभाविक पद्धति का जो हाल होता है, कबीर निर्विवाद रूप से उससे अवगत थे। न होते तो कैसे कहते कि 'पाँडे करसि न वाद विवादं, या देही बिना सबद न स्वादं।।' 'सबद' और 'स्वाद' को 'देह' ('देही' तो 'देह' में ही रहता है!) से जोड़कर देखने और दिखानेवाले कबीर की साधना और साहित्य को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी समझते नहीं तो कैसे कह पाते कि 'साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' थे! सच कहा जाये तो 'साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' होने का प्रमाण तो उन्हें नवजागरण के आलोक में खुद रवींद्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन से ही मिल चुका था। फिर भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते

हैं 'रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी ध्वनित वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है--- बाईप्रोडक्ट है, वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ध्वनित वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं! शैली तो अपनी जगह, हालाँकि कुछ विद्वान यह बताते हुए नहीं थकते कि वस्तु ही शैली का भी निधार्रण कर देती है! ऐसे विद्वानों की निगाह शैली पर नहीं गई तो फिर भी कोई बात नहीं, लेकिन 'ध्वनित वस्तु' और 'ध्वनित करने की सामग्री' का ऐसा बारीक अंतर तो 'ज्ञान की आँधी' में ही जाहिर होता है! 'ज्ञान की आँधी' में पले विद्वानों के लिए क्या मुश्किल है, वे तो कह ही सकते हैं कि अरे इतना भी नहीं जानते! 'ध्वनित करने की सामग्री' है--- सितारय 'ध्वनित वस्तु' है--- राग! क्या सचमुच कबीर ने 'संस्कृत के 'कूप-जल' को छुड़ाकर भाषा के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया'! कबीर के लिए तो संस्कृत भाषा 'कूप-जल' थी ही, बुद्ध और महावीर के लिए भी संस्कृत कोई सहज स्वाभाविक भाषा नहीं थी, लेकिन जिन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए संस्कृत ऐसी भाषा रही है, जिसमें साहित्य की रचना कम-से-कम छह हजार वर्षों से निरंतर होती आ रही है, जिसके लक्षाधिक ग्रंथों के पठन-पाठन और चिंतन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं, भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिंता का स्रोत संस्कृत के रास्ते ही बहता आया है, इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहस्रों वर्षों पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिये हुआ है, जिसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती--- फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के माननेवालों की हो या उस धर्म के, जो इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष भाषा रही है, उस भाषा को वे 'कूप-जल' कहें! आश्चर्य! स्नान तो संस्कार-गंगा में ही वरेण्य होता है, अनजान में सृष्ट हो रही भाषा-सरिता में नहीं! और कबीरदास तो माया महाठगिनी को पहचानते भी थे--- 'माया महा ठगनि हम जानी। तिरगुन फाँसि लिये कर डोले, बालै मधुरी बानी।। केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी। पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ में हू में पानी।। जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर के रानी। काहू के हीरा होइ

बैठी, काहू के कौड़ी कानी।। भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी। कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी।।'

सरस्वती का स्नान! स्नान करवाना पंडों-पुरोहितों का काम था, कबीरदास का नहीं। कबीरदास तो स्नान, दान, काबा, काशी आदि के झमेले से मुक्त हो चुके थे! उन्हें फिर से इस झमेले में डालने का क्या मतलब! कबीरदास साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे, पर किसने उन्हें गुरू माना! साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा थे, पर उनका साहित्य फोकट का माल था! वे भाषा की भी सृष्टि कर रहे थे, मगर अनजान में! यह कैसे संभव है? संभव है। दुनिया में बड़े-बड़े आविष्कार अनजान में ही तो हुए हैं--- और कुछ न भी मालूम हो कम-से-कम नहाते हुए आर्कमिडीज के 'युरेका-युरेका' चिल्लाने या बाग में न्यूटन के सामने सेव के गिरने की कहानी तो सबको मालूम ही है। यह न मालूम हो तो 'घुणाक्षर न्याय' के बारे में जानते होंगे! घुन लकड़ी पर अपना काम करता है। अब घुन के इस काम से कहीं 'क' बन जाता है कहीं 'बी' तो कहीं 'र' और विद्वान लोग उसे जोड़कर 'कबीर' समझें तो इसमें घुन का, क्या तो गुण और क्या तो दोष! यह सरस्वती की महिमा नहीं तो और क्या है कि इस देश में हमेशा 'कबीर के विवेक' को ही 'घुणाक्षर न्याय' से समझा जाता है, तुलसीदास के विवेक को नहीं!

कबीरदास और तुलसीदास की तुलना करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्त्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्त्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास। परंतु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्त्व में बड़ा अंतर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परंतु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब-कुछ को झाड़-फटकारकर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिंदी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब-कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्त्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्त्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्त्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में संतोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाये तो और क्या कहा

जाये? परंतु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कवि रूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं।' किसने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें कही थीं? तुलसी ने! नहीं तो! लेकिन कबीर के कवि रूप को ही घलुए में मिली वस्तु होना था!

कबीर की केंद्रीय वस्तु

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उन से अधिक योग्य मानकर संतोष पाते रहे हैं।' कबीर चेतना का बीज-तत्त्व 'प्रेम' है। कबीर को 'सतगुरू' भी इसीलिए भाते हैं कि वे 'सत्त प्रेम' का प्याला भरते हैं, खुद पीते हैं और कबीर को भी पिलाते हैं। 'साधो, सतगुरू मोंहि भावै। सत्त प्रेम का भर प्याला, आप पिवै मोंहि प्यावै।' इस अपार जगत में जिससे रहनि संभव हो वही 'प्रीतम' कबीर को 'प्यारा' है! 'जिससे रहनि अपार जगत में, सो प्रीतम मुझे पियारा हो। जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहिं में करत पसारा हो। आप जरै औरनि को जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।' कबीर के प्रेम की जाग्रति पर और कुछ अलग से कहने की जरूरत है! 'देह' के महत्त्व को समझना जाग्रति के महत्त्व को समझना नहीं तो और क्या है? मनुष्य के प्रति निर्विशिष्ट और अबाध प्रेम कबीर के व्यक्तित्त्व का बीज-तत्त्व है। कबीर के समय का बीज-तत्त्व, धर्म और ईश-विचार में निहित था। इसलिए, कबीर का मनुष्य-प्रेम, ईश्वर के आलंबन से भक्ति के परिसर में अभिव्यक्त हुआ है। यदि 'हरिस्मरण' के संदर्भ में 'कलाविलास' के लिए जगह बन सकती है तो 'हरिस्मरण' के संदर्भ में समाजविकास और सामाजिक समानता के लिए जगह क्यों नहीं बन सकती है? बन सकती है, इसीलिए, कबीर ने ईश-विचार की चुनौती तो स्वीकारी, लेकिन साथ ही उन्होंने धर्म को गहरी चुनौती भी दी। उन्होंने धर्म और ईश-विचार दोनों को ही बदलकर रख दिया। कबीर के बाद हिंदी-समाज के संदर्भ में न तो धर्म और न ही ईश-विचार वही रह गया जो कबीर के पहले था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की भक्ति-चेतना को ईश-प्रेम से जोड़कर उसका गहन और विलक्षण अध्ययन तो करते हैं, लेकिन सामाजिक-प्रेम के प्रसंग में 'डि-कोड' करने का गुरूतर कार्य पता नहीं किसके भरोसे पर छोड़

देते हैं। ईश्वरीय-प्रेम तो अंतत: और अनिवार्यत: मानव-प्रेम के रूप में ही सार्थक हो सकता है। ईश्वरीय-प्रेम और मानव-प्रेम के बीच सूक्ष्म और अबाध भावांतरण को ठीक से नहीं समझने पर न तो कबीर का आध्यात्म समझ में आ सकता है और न ही उनके साहित्य के सामाजिक महत्त्व की बात ही समझ में आ सकती है। कबीर के 'ईश्वरीय-प्रेम' अर्थात आध्यात्म-चेतना, को तो खूब सराहा गया, लेकिन उनके 'मानव-प्रेम' अर्थात सामाजिक-चेतना की गंभीरता को न समझते हुए उसे 'फोकट का माल' ही माना गया! कबीर का प्रेम 'दुलहा-दुलहिन' का अंतर्मिलन है, बारातियों का मजाक नहीं, 'लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।ध दुलहा दुलहिन मिलि गये, फिकी परी बरात।'

समवाय, समन्वय और समाज

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तुलसीदास के बारे में कहते हैं, 'भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वयकारी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। ...लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय--- रामचरित-मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।... समन्वय का मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए जिस असामान्य दक्षता की जरूरत थी वह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि रामचरित-मानस के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह शुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता। ...आज चार सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई संदेह नहीं रह सकता कि उन्होंने भावी समाज की सृष्टि सचमुच की थी। आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही उसके मेरुदण्ड हैं।' तुलसीदास में समन्वय की विराट चेतना थी और आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है--- तो फिर तुलसीदास के रचे हुए इस उत्तर-भारत में ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय क्यों नहीं हो सका? इतिहास के इस सवाल से न तो

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि टकराती हुई दिखती है और न उनका आलोचना विवेक ही टकराता हुआ दीखता है।

यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कबीर में 'समन्वय-चेतना' नहीं थी। कबीर का समवाय निश्चित रूप से तुलसीदास के समन्वय से भिन्न जाति का और अधिक व्यापक स्वभाव का था। समवाय में झुकने-झुकाने का नहीं, समझने-समझाने का भाव प्रमुख होता है। तुलसीदास के समन्वय में हिंदू धर्म के विभिन्न मतवादों और उपासना पद्धति में, दार्शनिक मतों में, वैचारिक समन्वय का वर्ण-सापेक्ष पक्ष अंतर्निहित है। कबीरदास के समवाय का धरातल तुलसीदास के समन्वय से बड़ा है। कबीर 'निर्विशष्ट मनुष्यता' के विभाजन के थोथे आधार को चुनौती देते हैं। कहना न होगा कि 'समन्वय' विचार का सकारात्मक पक्ष होता है। तुलसीदास का समन्वय 'सामाजिक समता के निषेध' को स्वीकार कर आध्यात्मिक एकता की बात करता है। कबीरदास का समवाय 'निषेध का निषेध' करते हुए आध्यात्मिक एकता के साथ सामाजिक एकता की बात पर भी बल देता है, लेकिन, 'मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे। मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।' तुलसीदास का समन्वय मनुष्य की धार्मिक-समता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य की सामाजिक-समता की पैरवी नहीं करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-विषमता का, प्रकारांतर से और कभी-कभी सीधे भी, औचित्य प्रतिपादित करता है। कबीरदास का समवाय मनुष्य की धार्मिक-समता के साथ ही मनुष्य की सामाजिक-समता की भी पैरवी करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-समता के औचित्य प्रतिपादन पूरी तार्किकता के साथ करता है। वस्तुतः धार्मिक आधार पर समता और सामाजिक आधार पर विषमता से विरोधाभासी जीवन-स्थितियों का जन्म होता है। जिस भक्त के चिंतन में 'भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझने' का मनोभाव सक्रिय हो उससे बड़ा समन्वयकारी और कौन हो सकता है! यह सच है कि कबीर का समन्वय झुकने-झुकानेवाले समन्वय से भिन्न है, क्योंकि वे झुकने-झुकानेवाले समन्वयों के सांस्कृतिक परिणाम को पढ़ पा रहे थे। यह समझना ही होगा कि 'कबीर का सवप्न क्यों बिखर गया? तुलसी कबीर से सौ साल बाद होकर भी कबीर से अधिक मुखर क्यों नहीं हो सके? भक्ति पुनः धर्मिक पाखंड और कर्मकांड में क्यों बदल गई?' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पास इस सवाल का सही जवाब है, भक्ति पुनः धर्मिक पाखंड और

कर्मकांड में बदल गई 'हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड' के कारण। यह जानने और मानने के बाद भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पण्डित-सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता की रक्षा करते हुए, एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की और अब तक उत्तर भारत का मार्ग-दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन भारत का नया जन्म होगा।' क्या हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के प्रति असहिष्णु हैं? शायद नहीं। लेकिन यह सच है कि तुलसीदास और सगुण भक्ति का प्रसंग आते ही उनका आलोचनात्मक रवैया सीधी-सरल रेखा से समझ में नहीं आता है। यह सच है कि हिंदी परिसर में कबीर को फिर से सामने लाने का आलोचनात्मक दायित्व ऐतिहासिक रूप से सबसे अधिक तत्परता से उन्होंने ही निभाया। शांतिनिकेतन में रहते हुए उन्हें कबीर के महत्त्व का अंदाजा लग गया था। बंगाल के नवजागरण के सूत्रकारों और सूत्रधारों से उनका निकट का संबंध बना था। नवजागरण के सूत्रों से उन्हें कबीर नये संदर्भ में महत्त्वपूर्ण लगने लगे थे। वे महिमा में कबीर की प्रतिद्वंद्विता तुलसी से होने को देख रहे थे। दिक्कत यहीं हो गई। कबीर की नहीं, तुलसी की कबीर से प्रतिद्वंद्विता थी। बाद में होने का लाभ तुलसी को मिला। उन्होंने कबीर समेत भक्ति के पूरे सामाजिक पाठ को उलटकर उसे फिर से सामंतवाद, शास्त्र-धर्म और वर्ण-व्यवस्था में समेट लिया। तुलसीदास का यह प्रभाव हिंदी क्षेत्र में गहरा पड़ा, लेकिन हिंदी-क्षेत्र से बाहर तुलसी का प्रभाव पड़ा ही नहीं या फिर बहुत फीका पड़ा। दोनों का प्रभाव हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने था। इन प्रभावों का द्वंद्व उनके भीतर था। इसी द्वंद्व का नतीजा है कि वे आलोचना की नजर से इस बात को सैद्धांतिक रूप से ठीक ही देख रहे थे कि 'ध्वनित वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं' लेकिन व्यावहारिक रूप से 'प्रधान ध्वनित वस्तु' को 'बाई प्रोडक्ट' और 'फोकट का माल' कह रहे थे। काव्य रचना तो तुलसी की भी प्रतिज्ञा नहीं थी, कबीर की भी नहीं थी। फिर तुलसी का काव्य 'अद्वितीय' कैसे हो गया और कबीर का काव्य 'फोकट का माल' कैसे हो गया!

प्रेरणा और प्रयोग

भक्ति शास्त्र से प्रेरणा नहीं लेती है, शास्त्र का प्रयोग जरूर करती है। कहना न होगा कि प्रयोग करने और प्रेरणा लेने में भारी अंतर होता है। 'धर्म'

शास्त्र से प्रेरणा लेता है, जीवन और लोकाचरण में प्रयोग नहीं करता है। भक्ति शास्त्र से प्रेरणा लेने के बदले उसके विरोध में जाने का 'जोखिम' उठाते हुए भी उसका जीवन और लोकाचरण में भरपूर प्रयोग करती है, क्योंकि भक्ति कुमति को पहचानती है, 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।। वेद पुरान पढ़त अस पाँड़े, खर चंदन अस जैसैं भारा।' जाहिर है 'राम नाम जपना' और 'वेद पुरान' पढ़ना दोनों अपनी-अपनी वस्तुवाचकता और अपने पदार्थ-बोध में एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं विपरीत भी है। तुलसीदास के 'नाम सुमिरन सब विधिहू को राज रे। नाम को बिसरिबौ निषेध सिरताज रे।।' और कबीरदास के 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।।' में तात्त्विक अंतर है। तुलसीदास का 'नाम सुमिरन' 'वेद पुरान' के अतिरिक्त और 'वेद पुरान' का विस्तार है, कबीरदास का 'राम नाम जपना' उस 'वेद पुरान' का विकल्प और उस 'वेद पुरान' से निस्तार का मार्ग है। इस अंतर का संबंध उनके सामाजिक अवस्थान से है। असल बात यह है कि अपने समय की जीवन-स्थितियों के कारण 'भक्ति' 'शास्त्र के खर-चंदन-भार' से 'धर्म' को मुक्त करने के क्रम में अंतर्धार्मिक और धर्मातीत रास्ता अख्तियार करती है। जी हाँ, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में, या हिंदू धर्म में, ढूढ़ना सही नहीं है। उन धर्मों का असर है, लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं। मल्लिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार हैं। संत-साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जो मूलतः किसी प्राचीन धर्मग्रंथ पर निर्भर नहीं हैं।' इतिहास गतिशील रहता है। आनेवाला समय गुजरे हुए समय की समझ को बार-बार परखने की चुनौतियाँ देता है। असल में, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत--- बौद्ध धर्म या इस्लाम या हिंदू धर्म में--- ढूढ़ना सही नहीं है', इसीलिए भक्ति को धार्मिक परिप्रेक्ष्य के बाहर और 'भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों' के परिप्रेक्ष्य के अंदर से समझना और स्वीकारना ही उचित और उपादेय है, लेकिन यह काम आलोचना तत्परता से नहीं कर सकी है। तुलसीदास में भक्ति का धार्मिक परिप्रेक्ष्य अधिक है और कबीरदास में सामाजिक परिप्रेक्ष्य अधिक है। तुलसीदास ने भक्ति साहित्य के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ला खड़ा किया, जिससे 'भक्ति' के गौण होते जाने और 'धर्म' के प्रमुख होते जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। तुलसीदास के भक्त

होने के बावजूद उनकी धार्मिक-चेतना, इस अर्थ में भक्ति की मूल सामाजिक चेतना का विरोध रचती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इतिहास की इस विडंबना को जानते तो थे! लेकिन रही होगी कोई बात कि उनकी इतिहास दृष्टि झलफला गई और अलोचना विवेक आगे बढ़ने से हिचक गया। यह बात संस्कारजन्य भी हो सकती है या फिर विश्वविद्यालयों का वातावरण भी हो सकता है या फिर और कुछ! जो भी स्थिति हो, अंततः के पहले मुक्तिबोध के शब्दों को याद करें, ''आज संस्कृति का नेतृत्व उच्च वर्ग के हाथ में है--- जिनमें उच्च मध्यवर्ग भी शामिल है, किंतु यह आवश्यक नहीं है कि यह परिस्थिति स्थायी रहे, अनिवार्यतः। यह बदल सकती है। और, जब बदलेगी, तब इतनी तेजी से बदलेगी कि होश फाख्ता हो जायेंगे। संस्कृति का नेतृत्व करना, जिस वर्ग के हाथ में होता है, वह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी भावधारा और अपनी जीवन-दृष्टि का इतना अधिक प्रचार करता है कि उसकी एक परंपरा बन जाती है। यह परंपरा भी इतनी पुष्ट, इतनी भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित होती है, कि समाज का प्रत्येक वर्ग आच्छन्न हो जाता है। यहाँ तक कि जब अनेक सामाजिक राजनीतिक कारणों से निम्न-जन-श्रेणियाँ उदबुद्ध होकर, सचेत और सक्रिय होकर अपने-आपको प्रस्थापित करने लगती है, तब वे उन पुराने चले आ रहे भाव-प्रभावों, विचारधाराओं और जीवन-दृष्टियों को इस प्रकार संपादित और संशोधित कर लेती हैं, कि जिससे वे अपने अज्ञान की परिधि में ज्ञान की ज्वाला प्रदीप्त कर सकें। दूसरे शब्दों में, समाज-रचना को बदलनेवाली विचारधारा के अभाव में, वे निम्न-जन-श्रेणियाँ, अपनी सामाजिक-राजनीतिक विकासावस्था के अनुरूप, पुरानी विचारधाराओं ही का संपादन संशोधन कर लेती हैं और इस प्रकार अपने प्रभाव का आंशिक विस्तार कर लेती हैं, किंतु अंततः, संस्कृति का नेतृत्व करनेवाले पुराने विधाताओं से हारना ही पड़ता है। मेरा मतलब कबीर जैसे निर्गुणवादी संतों की श्रेणी से और उस श्रेणी में आनेवाले लोगों से है। समाज के भीतर निम्न-जन-श्रेणियों का वह विद्रोह था, जिसने धार्मिक-सामाजिक धरातल पर स्वयं को प्रस्थापित किया। आगे चलकर, निर्गुणवाद के अननंतर, सगुण भक्ति और पौराणिक धर्म की विजय हुई, तब संस्कृति के क्षेत्र में निम्न-जन-श्रेणियों को पीछे हटना पड़ा। यह आवश्यक नहीं कि आगे चलकर ये निम्न-जन-श्रेणियाँ चुपचाप बैठी रहें। शायद वह जमाना जल्दी ही आ रहा है जब वे स्वयं संस्कृति का नेतृत्व करेंगी, और वर्तमान नेतृत्व अधरूपतित होकर धराशायी हो जायेगा। इस बात से वे डरें जो समाज के उत्पीड़क हैं, या उनके साथ हैं, हम नहीं क्योंकि

हम पद-दलित हैं और अविनाशाय हैं--- हम चाहे जहाँ उग आते हैं। गरीब, उत्पीड़ित, शोषित मध्यवर्ग को ध्यान में रखकर मैं यह बात कह रहा हूँ।''

अंततः

एक साहित्यकार के इतिहास-बोध और आलोचना-विवेक को समझने के लिए उसके आस-पास के बौद्धिक पर्यावरण एवं परंपरा की धार को समझना भी जरूरी होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय का बौद्धिक पर्यावरण आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सर्जनात्मक उपस्थिति से बनता था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन और आलोचना का आधार तैयार करने के कार्य को जिस बौद्धिक तत्परता और व्यापकता से पूरा किया उसे एक बड़ी बौद्धिक छलाँग कहना अत्युक्ति नहीं होगी। इतनी बड़ी छलाँग में बहुत कुछ का छूट जाना असंभव नहीं हुआ करता है। फिर वह कबीर जैसा पहाड़ ही क्यों न हो! हिंदी प्रदेश से तो कबीर वैसे ही बहिष्कृत थे। जब बुद्ध ही निर्वासित थे तो कबीर, जिनके साहित्य में बौद्ध धर्म और उसकी सामाजिक चेतना का विलयन हुआ था, कैसे स्वीकार्य हो सकते थे! कबीर के लिए जब समाज में ही जगह नहीं बन पाई थी तो साहित्य का क्या कहना! फिर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रत्यक्ष अनुभव में न तो बंगाल का नवजागरण ही था और न रवींद्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन के कबीर संबंधी कार्य और प्रेरणा का प्रदीप्त प्रभाव ही था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समक्ष यह अवसर था कि हिंदी आलोचना में अनुल्लंय के उल्लंघन के दोष का परिहार और प्रायश्चित किया जा सके। कहना न होगा कि आपने जानते, उन्होंने इस अवसर का पूरा उपयोग भी किया। उन्होंने जो वैकल्पिक इतिहास दृष्टि व्यावहार में लाई उसके पीछे अनिवार्य रूप से सक्रिय वैकल्पिक आलोचना विवेक को भी चिह्नित करना चाहिए। इतना तो तय है कि अपनी कतिपय परिस्थितिजन्य और संस्कारजन्य सीमाओं के बावजूद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर को हिंदी प्रदेश के साहित्यिक वातावरण में प्रतिष्ठित कर दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कविता क्या है' नहीं लिखा ठीक, लेकिन इस कारण से 'कविता का प्रतिमान' लिखना कहाँ बंद हो गया! यह सच है कि आलोचना विश्लेषण का पर्याय नहीं है, लेकिन क्या विश्लेषण अलोचना की परोपजीविता का प्रमाण है! और उद्धरण? ऐसा बताया जाता है कि कर्ण को परशुराम का **शाप** था कि उन से सीखी हुई विद्या तभी विस्मृत हो जायेगी, जब जीवन में उसकी सबसे ज्यादा जरूरत होगी। अगर इस

प्रसंग का कोई अर्थ है तो अब **शाप** पलट गया लगता है। वह ताकत अक्सर गुरू परशुराम का साथ छोड़ देती है जिस ताकत की उन्हें अत्यधिक जरूरत होती है, फिर उस ताकत का नाम विवेक और संदर्भ का नाम अलोचना ही क्यों न हो!

अपने अंतिम समय में विद्यापति गंगा दर्शन के लिए उपस्थित हुए थे। उन्होंने बड़ी विनम्रता से प्रार्थनापूर्वक क्षमायाची मुद्रा में कहा था कि हे माँ, मुझे क्षमा करना मैंने तुम्हारे पानी को अपने पैर से स्पर्श किया है--- परसल माए, पाए तुअ पानी। परंपरा के पानी में तो उतरना ही पड़ता है, परंपरा 'पवित्र वन' न सही, तब भी परंपरा के अवदानों को समझकर इतनी-सी क्षमायाची मुद्रा तो होनी ही चाहिए।

आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी

हजारी प्रसाद द्विवेदी का आलोचक व्यक्तित्त्व अन्य आलोचकों की तुलना में इसलिए विशिष्ट हो जाता है कि उनमें एक ओर आचार्यत्व की गरीमा है तो दूसरी ओर गहरी सृजनात्मक ऊर्जा। चिंतन एवं भावुकता का यह दुर्लभ संयोग बिरले लेखकों में दिखाई देता है। उनका आलोचक व्यक्तित्त्व मूलत: एक सर्जनात्मक व्यक्तित्त्व है, जो अत्यंत जीवंत,सरस एवं गतिशील है। उनमें जो भाव प्रवणता एवं भावोच्छवास है वह सम्भवत: रवीन्द्रनाथ टैगोर से प्रभावित है। जिसके कारण आलोचक द्विवेदीजी को विशुद्ध आलोचक नहीं मानते है।हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की दृष्टि मुख्यत: शोधपरक तथा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक है। यह उनकी आलोचना को क्षतिग्रस्त नहीं करती, बरन उसे और भी अर्थवान एवं महत्वपूर्ण बनाती है। इनमें एक रचनात्मक संलग्नता है, जिसके कारण वे बड़ी तन्मयता एवं सहृदयता के साथ किसी कवि का मूल्यांकन करते थे।वे साहित्य को या साहित्यकार को एक व्यापक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में रखकर,उस समय के धर्म,राजनीति और लोक जीवन के साथ रखकर उसका विश्लेषण-मूल्यांकन करते थे।द्विवेदीजी की दृष्टि शोधपरक थी,पर वे पुरानी पोथियों और शास्त्रों तक ही सीमित नहीं रहते थे और न उनकी व्याख्या मात्र करके रह जाते थे, वे अपने पुराने ज्ञान को आधुनिक दृष्टि से जोड़ते भी चलते थे।फलत: वे अपने पाठक के ज्ञान क्षितिज को विस्तृत करते और व्यापक आयाम देते चलते थे। वे जितनी गहराई से प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र,ज्योतिष,तन्त्र,धर्म और दर्शन में घुसते थे उतनी ही गहराई से पाश्चात्य विद्वानों के आधुनिक चिंतन में।

द्विवेदीजी कि साहित्य एवं आलोचना संबंधी मान्यताएं मुख्य रूप से उनके विचार प्रधान निबंधों एवं ललित निबंधों यथा लालित्य तत्त्व,साहित्य का मर्म और साहित्य का साथी जैसी कृतियों में व्यक्त हुई है।उनकी दृष्टि ऐतिहासिक-सांस्कृतिक,मानवतावादी तथा समाजशास्त्रीय होने के कारण वे संस्कृति की जीवनधारा से साहित्य को जोड़कर देखते है।उनकी आलोचना के केंद्र में मनुष्य है।उनके अनुसार 'साहित्य का मर्म वहीं जान सकता है, जो साधना एवं तपस्या का मूल्य जानता है।मनुष्य रूपी पुरुष ही सृष्टि की सबसे बड़ी साधना है,उससे बड़ा कुछ भी नहीं।'द्विवेदीजी का मानना है कि साहित्य वहीं है, जो मानव हृदय को उदात्त बनाता है।उसे पशुत्व से उठाकर देवत्व की ओर अग्रसर करता है।मनुष्य को सारे विश्व के साथ एकत्व की अनुभूति कराता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य में उस यथार्थ को पसंद नहीं करते थे, जो नग्नता के प्रदर्शन के बल पर मनुष्य की कुंठा को और विस्तार देता है।उनके अनुसार स्थानीय दृश्यों के व्यौरेवार चित्रण,छोटी-बड़ी घटनाओं का सिल-सिलेवार निरूपण,विस्तारित वर्णन,बोलियों और गालियों का प्रयोग, ये सब यथार्थवादी लेखन नहीं है, बल्कि यथार्थवादी कौशल है, जिससे लेखक अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता है।लेकिन साहित्य का यहीं लक्ष्य नहीं होना चाहिए। उनका मानना है कि साहित्य में मनुष्य के सामूहिक कल्याण की दृष्टि प्रधान हो गयी है, लेकिन यह दृष्टि हमारी साहित्य आलोचना के मूलभूत तत्त्वों में से एक रही है और हमें उस पुरानी परम्परा को भूलना नहीं चाहिए। अच्छा लेखक समाज की जटिलताओं के अंदर प्रविष्ट करता है।उसका परत दर परत विश्लेषण-विवेचन करता है तथा उस सत्य को उदघटित करता है, जिससे मानवता का कल्याण हो सके, लेकिन साहित्यकार का सबसे बड़ा लक्ष्य होना चाहिए मनुष्य को देवत्व पद पर आसीन करना। आचार्य जी का यह दृष्टिकोण उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में सर्वत्र छाया हुआ है। उन्होंने सौंदर्य का मूल्यांकन भी इसी दृष्टि से किया है। द्विवेदीजी सामाजिक वैषम्य का विरोध करते है। वे सामन्जस्य को सौंदर्य की आत्मा मानते हुए बाह्य जगत से उनका घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं। यहीं कारण है की वे साहित्य को सम्पूर्ण जीवन के साथ जोड़कर देखते हैं।

समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदीजी अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण के लिए विख्यात हैं। वे इतिहास की घटनाओं को भूतकालीन घटनाओ का मात्र संकलन न मानकर उसे कालश्रोत में बह आते हुए जीवन्त समाज की विकास कथा मानते हैं। द्विवेदी जी इतिहास को मनुष्य के विकास एवं उसके भविष्य के साथ

जोड़कर देखते हैं। इतिहास मनुष्य के जीवनधारा का प्रवाह है, उसके संघर्ष का नाम है।समस्त गलतियों के वावजूद मनुष्य मनुष्यता की उच्चत्तर अभिव्यक्तियों की ओर बढ़ रहा है। पंडित जी मनुष्य की इस दुर्दम्य जिजीविषा को ही सबसे बड़ा सत्य मानते है, जिसका उल्लेख 'अशोक के फूल' नामक निबंध में करते है।'अनामदास का पोथा' नामक उपन्यास में वे लिखते हैं किजैसे लोग आत्मा कहते हैं, वह इसी जिजीविषा के अंदर कुछ होना चाहिए।.....। आत्मा अज्ञात अपरिवर्तित संभावनाओं का द्वार है।अगर संभावना नहीं होती तो जिजीविषा भी नहीं होती।

द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में हिन्दी साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा का प्रतिपादन किया है।इसी दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने हिन्दी साहित्य के विविध कालों का मूल्यांकन किया है। कबीर का मूल्यांकन करते हुए वे विविध साधना पद्धतियों और उनके ऐतिहासिक विकास का अध्ययन प्रस्तुत करते है। उन्होंने कवि के स्वभाव,व्यक्तित्त्व और विचारों पे उसी की वंश परम्परा,जातीय संस्कार और युगचेतना का प्रभाव लक्षित किया है। द्विवेदी जी की प्रथम आलोचना कृति 'सूर साहित्त्य'1930 के आस-पास प्रकाशित हुई थी।यह एक शोधपरक कृति है। इसके प्रारम्भिक दो अध्यायों -राधाकृष्ण का विकास तथा स्त्री पूजा और उसका वैष्णव रूप में सर्वथा नूतन सामग्री प्रस्तुत की गयी है।जॉर्ज ग्रियर्सन ने सूरदास,नन्ददास,मीराबाई तथा तुलसीदास आदि कवियों पर ईसाई प्रभाव की चर्चा की है।द्विवेदीजी ने अपनी इस पुस्तक में ईसाई भक्तों और भारतीय वैष्णव भक्तों की बुनियादी जीवन अंतर स्पष्ट करते हुए कहा है कि ईसाई परिकल्पना मानव जीवन को आदिम पाप का दंड मानती है।इसलिए इसमें ईश्वर के सानिध्य के लिए अपने में पापबोध और दु:ख बोध को जागृत करना आवश्यक हैयजबकि वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोकधर्म अधिक है।उन्होंने जयदेव,विद्यापति और चंडीदास की राधा के साथ सूरदास की राधा को रखकर प्रेमतत्त्व का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए बताया है कि भारतवर्ष के किसी भी कवि ने राधा का वर्णन ऐसी पूर्णता के साथ नहीं किया है, विश्व साहित्य में सूर की राधा जैसी प्रेमिका नहीं है।

सूरदास के बाद हिन्दी के दूसरे कवि जिस पर द्विवेदी जी ने स्वतंत्र पुस्तक लिखी है,वह कबीर है। संत कवि कबीर के मूल्यांकन में उन्होंने कविता के नए प्रतिमानों की स्थापना की, जो आज भी चल रहे हैं। कबीर द्विवेदी जी के आदर्श कवि बन गए, वैसे ही जैसे तुलसीदास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के।इसीलिए कबीर

की आलोचना में द्विवेदी जी का मन सबसे ज्यादा रमा है और वह उनकी अप्रतिम आलोचना कृति बन गयी।द्विवेदीजी ने पहली बार कबीर के व्यक्तित्त्व को,उनके कवित्व को,उनकी भाषा को और उनकी व्यंग्य क्षमता को रेखांकित करते हुए उन्हें हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठत किया।शोध,ऐतिहासिक दृष्टि और सहृदय समीक्षा का दुर्लभ संयोग द्विवेदीजी के कबीर संबंधी अध्ययन में दिखाई पड़ता है। उपसंहार में वे कबीर की भाषा के बारे में लिखते हैं कि 'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था,वे वाणी के डिक्टेटर थे।' कबीर के व्यक्तित्त्व पर उनकी टिप्पणी है कि 'हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्त्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।'

सूर और कबीर पर जिस प्रकार द्विवेदीजी ने अलग-अलग ग्रंथ लिखे उसी प्रकार संस्कृत के कवि कालिदास और बांग्ला के कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर पर भी स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की।ये दोनों हजारी प्रसाद द्विवेदीजी के प्रेरणाश्रोत थे।कालिदास की लालित्य योजना नामक पुस्तक में द्विवेदीजी ने कालिदास का नया मूल्यांकन किया है। वे आधुनिक पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र और प्राचीन भारतीय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक परम्परा दोनों का सहारा लेते हुए कालिदास की कला विषयक मान्यताओं का अध्ययन करते है। कालिदास उनके लिए सामान्य कवि नहीं, अपितु भारत की अंतरात्मा और भारतीय मनीषा को वाणी देनेवाले कवि है। द्विवेदी जी का मानना है कि 'भारतीय दर्शन,धर्म,शिल्प और साधना में जो कुछ भी उदात्त है,जो कुछ दिप्त है,जो कुछ महनीय है,जो कुछ लालित्य और मोहन है, उनका प्रयत्नपूर्वक सजाया-सँवारा रूप कालिदास का काव्य है।'पंडितजी ने 'मेघदूत की टीका 'मेघदूत एक पुरानी कहानी नाम से लिखी है।इसे वे एक गप्प की संज्ञा देते है।' उनकी दृष्टि में मेघदूत एक अद्‌भुत काव्य है।यह मनुष्य की चिर-नवीन विरह वेदना और मिलनाकांक्षा का सर्वोत्तम काव्य है।'मृत्युंजय रवीन्द्र' रवीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व पर लिखी गयी हजारी प्रसाद के लेखों का संग्रह है।इन लेखों में कुछ तो महाकवि के व्यतित्त्व के बारें में संस्मरणात्मक है और कुछ उनके विचारों और रचनाओं पर प्रकाश डालते है।मृत्युंजय रवीन्द्र में द्विवेदीजी ने रवीन्द्र के सहज,संयमित,प्रेरणादायक व्यक्तित्त्व का और उनके काव्य,दर्शन तथा उनकी विचारधारा का गंभीर विश्लेषणात्मक अध्य्यन प्रस्तुत किया है।नाथ सम्प्रदाय द्विवेदीजी का शोधपरक ग्रंथ है।इनमें उन्होंने नाथ सम्प्रदाय के सिद्धों का परिचय देते हुए गोरखनाथ के सिद्धांतों और उनकी साधना का विस्तार से विवेचन किया है।'सिक्ख गुरुओं का पुण्य

संस्मरण(1979)जो द्विवेदीजी की अंतिम पुस्तक है।यह पुस्तक द्विवेदीजी की मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हो सकी।यह सिक्ख गुरुओं के धार्मिक-साहित्यिक अवदान को विषय बनाकर लिखी गयी है।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल और मध्यकाल द्विवेदीजी के अध्ययन का प्रिय क्षेत्र रहा है।मध्यकालीन बोध का स्वरूप पंजाब विश्वविद्यालय में दिए गए द्विवेदीजी के पाँच व्याख्यानों का संग्रह है।द्विवेदीजी के अनुसार 8वीं शताब्दी से भारतीय साहित्य में स्वतंत्र चिंतन का ह्रास शुरू हो गया था।इस काल का अंतिम सीमांत 18वीं शताब्दी है।मध्यकालीन धर्मसाधना नामक ग्रंथ में उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के साधना विषयक तथा सिद्धांत विषयक ग्रंथों एवं उनसे संबद्ध काव्यग्रंथों से प्रयाप्त जानकारी एकत्रित कर विभिन्न धर्मसाधनाओं का परिचय दिया है। सहज साधना द्विवेदीजी के उन चार व्याख्यानों का संकलन है, जो उनके द्वारा मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के आयोजन में नागपुर में दिए गए थे।इन सभी व्याख्यानों का केंद्रीय विषय सहज साधना है।

द्विवेदीजी कि ऐतिहासिक की पहचान उनकी हिन्दी साहित्य की भूमिका,हिन्दी साहित्य का आदिकाल और हिन्दी साहित्य: उसका उद्भव और विकास नामक आलोचनात्मक पुस्तकों से होती है।'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य को एक विशाल परम्परा के अंग के रूप में देखा है।उसे सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके नहीं देखा है।इसीलिए इसमें बार-बार संस्कृत,पाली,प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की चर्चा आई है तथा इसके परिशिष्ट में उन्होंने वैदिक बौद्ध और जैन साहित्य का परिचय भी दे दिया है।द्विवेदीजी साहित्य के इतिहास को लोकचेतना के इतिहास के रूप में विश्लेषित करते हैं, जो भारतीय चिंतनधारा का स्वभाविक विकास है।द्विवेदीजी की यह इतिहास दृष्टि पूर्ववर्ती इतिहासकारों से भिन्न है।वे इसी दृष्टि से हिन्दी काव्य की अनेक धाराओं के उद्भव के संबंध में प्रचलित मान्यताओं का खंडन करते हैं। पूर्ववर्ती विद्वानों के अनुसार आदिकाल एवं भक्तिकाल की विभिन्न काव्यधारायें इस्लाम के प्रभाव से विकसित हुई।द्विवेदीजी इन मान्यताओं को कठोरता से नकार देते हैं। वे बताते हैं कि मुसलमानों के आगमन से पहले भी अपभ्रंश और लोकभाषाओं को सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त था।वे संतों को विशुद्ध ज्ञानमार्गी न मानकर प्रेममार्गी भी स्वीकार करते हैं। वे सूफियों के प्रबन्ध काव्यों की प्रतिपादन शैली और उनकी कथानक रूढ़ियों की छानबीन करते हुए उनके प्रेमाख्यानों को भारतीय साहित्य की परम्परा से जोड़ते हैं। वे कृष्णभक्ति के मुलश्रोतों को ढूढ़ते

हुए तांत्रिक साधनाओं तक पहुचते हैं। इसप्रकार द्विवेदीजी हिन्दी के आदि काल और भक्तिकाल के लिए एक ऐसे इतिहासकार के रूप में दिखाई पड़ते हैं, जो अपनी प्रचीन साधना परम्पराओं से पूरी तरह परिचित हैं और इतिहास को उसकी निरन्तरता में देखते हुए अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों को प्रबल तर्कों के आधार पर चुनौती देने में समर्थ हैं।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल पाँच व्याख्यानों का संग्रह है, जो बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्त्वाधान में दिए गए थे।हिन्दी साहित्य का आदिकाल जो एक प्रकार से हिन्दी का अंधकार युग था, उस पर सबसे पहले प्रामाणिक रोशनी डालने का काम हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने किया।उन्होंने इस उपेक्षित काल के बहुत से प्रश्नों को सुलझाया।हिन्दी के अनेक काव्य रूपों का सूत्र प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यरूपों में ढूढते हुए मध्यकालीन काव्यरूपों का संबंध उनसे जोड़ दिया।इतना ही नहीं हिन्दी साहित्य के साथ विभिन्न प्रान्तों के साहित्य का संबंध जोड़ते हुए उनके काव्यरूपों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।यह एक सर्वथा नवीन अध्ययन है।

हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास द्विवेदीजी का एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रगतिवाद तक की संक्षिप्त जानकारी दि गयी है। इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के बारें में भी द्विवेदी जी के विचार प्रकट हुए है, जो कवियों-लेखकों और उनकी प्रवृत्तियों के बारें में संक्षिप्त टिप्पणियाँ होने के बावजूद भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। द्विवेदी जी ने अपनी उदार मानवतावादी दृष्टि से ही हिन्दी के आधुनिक काल को देखने परखने की कोशिश की है। वस्तुतः यहीं द्विवेदी जी की बुनियादी दृष्टि रही, जिनसे वे सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करते रहे हैं। इस मूल्यांकन में उनकी शोध दृष्टि और इतिहासदृष्टि निरन्तर जाग्रत रही है। हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल के मूल्यांकन में द्विवेदी जी का एक महत्वपूर्ण योगदान है, जिसके आगे हर आलोचक को सिर झुकाना ही होगा और उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं के आधार पर ही अपनी आलोचनाओं की इमारत खड़ी करनी होगी।

10

नामवर सिंह की आलोचना पद्धति

हिंदी आलोचना एवं समकालीन विमर्श

प्रगतिवादी हिंदी आलोचना के एक समर्थ हस्ताक्षर के रूप में डॉ. नामवर सिंह का नाम लिया जाता है। उन्होंने आदिकालीन साहित्य से लेकर नए से नए हिंदी कवियों व लेखकों को अपनी आलोचना का विषय बनाया है। वे पृथ्वीराज रासो से लेकर मुक्तिबोध और धूमिल तक की लंबी और विशाल काव्य परंपरा को आत्मसात कर उसकी सम्यक् समीक्षा करते हैं। इनके लेखन का आरंभ अपभ्रंश से होता है, किंतु नयी कविता और समकालीन साहित्य पर भी सर्वाधिक सशक्त टिप्पणी करने वालों में वे अग्रणी रहे।

नामवर सिंह ने अपना आलोचकीय जीवन 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान' से आरंभ किया था। इसमें अपभ्रंश साहित्य पर विचार करते हुए बीच-बीच में नामवर जी ने टिप्पणियाँ दी हैं, वे विचारपूर्ण एवं सुचिंतित हैं। वे सूक्ष्मदर्शिता और सहृदयता के साथ मार्क्सवादी आलोचना पद्धति का रूप प्रस्तुत करती हैं। इसमें अपभ्रंश साहित्य की कतिपय महत्वपूर्ण रचनाओं का परिचय देते हुए उनके सौंदर्य पक्षों का उद्घाटन किया गया है। उनके अनुसार भावधारा के विषय में अपभ्रंश से हिंदी का जहाँ केवल ऐतिहासिक संबंध है, वहाँ काव्य रूपों

और छंदों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। सिद्धों की रचनाओं के विषय में उनका विचार है कि कुल मिलाकर सिद्धों की रचनाओँ में जीवन के प्रति बहुत सकारात्मक दृष्टिकोण है। हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश के उद्धृत दोहों की नामवर जी ने संदर्भ देते हुए ऐसी मार्मिक व्याख्या की है कि तत्कालीन समाज का नितांत आत्मीय रूप हमारी आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' के पाठशोध में हजारी प्रसाद द्विवेदी का सहयोग करने के साथ-साथ नामवर सिंह ने रासो संबंधी कुछ लेख भी उसी पुस्तक में जोड़ दिए हैं (पृथ्वीराज रासो–भाषा और साहित्य)। यद्यपि ये लेख परिचयात्मक ही हैं फिर भी एकाध स्थलों पर लेखक की सहृदयता, रस-ग्राहिकी और आलोचकीय क्षमता का पता चलता है। इन दो पुस्तकों में डॉ. नामवर सिंह के आलोचक रूप की अपेक्षा उनका शोधकर्ता, इतिहासकार रूप अधिक उभरता है। फिर भी हिंदी साहित्य के इतिहास की एक नवीन दृष्टि, मार्क्सवादी दृष्टि से देखने-समझने की शुरुआत यहाँ से हो जाती है।

'छायावाद' नामक कृति में नामवर जी ने छायावाद की काव्यगत विशेषताओँ को स्पष्ट करते हुए उसमें निहित सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन किया। यह प्रगतिवादी आलोचना के लिए एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। 12 अध्यायों में विभक्त इस कृति में विभिन्न अध्यायों के विवेच्य विषयों को सूचित करने के लिए जो शीर्षक दिए गए हैं, उनमें से अधिकांश छायावादी कवियों की काव्य-पंक्तियों के ही टुकड़े हैं। शीर्षकों से ही स्पष्ट है कि विवेचन में छायावादी काव्य वस्तु से सैद्धांतिक निष्कर्ष तक पहुँच गया है। यहाँ पर गुण से नाम की ओर बढ़ गया है तथा नामकरण की सार्थकता इस विशिष्ट काव्यधारा की काव्य-संपत्ति के आधार पर निश्चित की गयी है। किसी वाद पर हिंदी में इस वैज्ञानिक और निगमनात्मक ढंग से पहली बार विचार किया गया है। इसे रहस्यवाद, स्वच्छंदतावाद और छायावाद नाम से अभिहित किया गया है। इसमें छायावाद की विभिन्न विशेषताओं, रचनाओं, रचनाकारों का विधिवत विवेचन किया गया है।

छायावाद की अन्यतम कृति 'कामायनी' की प्रतीकात्मकता एवं रूपकत्व पर नामवर सिंह ने विचार किया है। इन्होंने कामायनी के रूपकत्व के सामाजिक आयाम पर विचार करते हुए कहा है कि 'इसमें आधुनिक समस्याओँ पर भी विचार किया गया है'। कामायनी में व्यंजित प्रतीकों को लेकर नामवर सिंह कहते हैं कि 'देवसंपन्नता का ध्वंस वस्तुतः हिंदू राजाओं और मुसलमान नवाबों तथा

मुगल बादशाहों के विध्वंस का प्रतीक है। हिमसंस्कृति प्राचीन जड़ता तो उषा नवजागरण की प्रतीक है। मनु देव-सभ्यता का प्रतीक है, कुमार प्रजातांत्रिक सभ्यता का। देवासुर संग्राम आत्मवाद एवं बुद्धिवाद के संघर्ष का प्रतीक है। इस प्रकार प्रसाद ने कामायनी में आधुनिक भारतीय सभ्यता के विविध पहलुओं का सजीव चित्रण किया है। यह भारत की आधुनिक सभ्यता का प्रतिनिधि महाकाव्य है।'

नामवर सिंह ने निराला की लंबी कविताओं 'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्तिपूजा' का विश्लेषण अत्यंत सहृदय और भाषिक सर्जनात्मकता के स्तर पर किया है। कथा-साहित्य में प्रेमचंद तथा उनके समकालीनों ('प्रेमचंद और भारतीय समाज') के साथ ही साथ उन्होंने नई कविता के तर्ज पर नई कहानी ('कहानी–नई कहानी') के तमाम कथाकारों का भी सहानुभूति एवं संवेदना के धरातल पर विश्लेषण-मूल्यांकन किया है। सिद्धांत निरुपण संबंधी उनकी विशिष्ट प्रतिभा 'कविता के नए प्रतिमान' में दृष्टिगत होती है। इस पुस्तक के प्रथम खंड में उन्होंने प्रतिष्ठित काव्य प्रतिमानों की विस्तृत आलोचना करते हुए उनकी सीमाएँ बतायी हैं, तथा द्वितीय खंड में नई कविता के संदर्भ में काव्य-प्रतिमानों के प्रश्न को नए सिरे से उठाया गया है।

'कविता के नए प्रतिमान' में नामवर जी ने मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अंधेरे में' की समीक्षा कर सबके लिए समीक्षा का द्वार खोल दिया। उनके अनुसार 'अंधेरे में' का मूल कथ्य अस्मिता की खोज है। अस्मिता की अभिव्यक्ति को परम अभिव्यक्ति से जोड़ते हुए नामवर जी ने कवि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज को अभिव्यक्ति की खोज माना है। एक कवि के लिए परम अभिव्यक्ति ही अस्मिता है। मुक्तिबोध ने आत्मसंघर्ष के साथ-साथ बाह्य सामाजिक संघर्ष को भी स्वीकार किया है। आत्म-संघर्ष की परिणति अंततः सामाजिक संघर्ष में होती है। उन्होंने रामविलास शर्मा की 'नई कविता और अस्तित्त्ववाद' में व्यक्त मान्यताओं को चुनौती देते हुए मुक्तिबोध जैसे कवियों के साहित्यिक मूल्य को पुनर्स्थापित किया। परंपरा संबंधी रामविलास शर्मा की स्थापनाओं ('परंपरा का मूल्यांकन') से टकराने के क्रम में उन्होंने 'दूसरी परंपरा की खोज' का व्यवस्थित प्रयास किया।

नई कविता के संदर्भ में नए काव्य प्रतिमानों का प्रश्न उठाते हुए नामवर सिंह लिखते हैं – 'कविता के प्रतिमान को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से आत्मपरक नई कविता की दुनिया से बाहर निकलकर उन कविताओं को भी

विचार की सीमा में ले आना आवश्यक है, जिन्हें किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में सामान्यत: 'लंबी कविता' कह दिया जाता है।' कविताओँ के इस आत्मपरक वर्ग के विरुद्ध उन्होंने मुक्तिबोध की लंबी कविताओं का उदाहरण देकर सामाजिक वस्तुपरक काव्य मूल्यों की स्थापना पर जोर दिया। ये कविताएँ अपनी दृष्टि में सामाजिक और वस्तुपरक हैं और आज के ज्वलंत एवं जटिल यथार्थ को अधिक से अधिक समेटने के प्रयास में कविता को व्यापक रूप में नाट्य-विचार प्रदान कर रहे हैं और इस तरह तथाकथित बिंबवादी काव्यभाषा के दायरे को तोड़कर सपाटबयानी आदि अन्य क्षेत्रों में कदम रखने का साहस दिखा रहे हैं।

नामवर सिंह की आलोचकीय ख्याति अपेक्षाकृत काव्य-आलोचना के क्षेत्र में अधिक रही। जिन काव्य-मूल्यों का प्रश्न उन्होंने उठाया, उनमें भावबोध से लेकर काव्यभाषा तक के स्तर तक काव्य-सृजन को एक सापेक्ष इकाई के रूप में देखने का प्रयास है, जिसमें रचना के निर्माण में एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक परिवेश के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। उन्हें वाचिक परंपरा का मूर्धन्य आलोचक भी माना जाता है। सभा-गोष्ठियों में दिये गए उनके व्याख्यानों को ही पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवा दिया गया। 1959 के एक व्याख्यान में उनकी कही यह बात आज भी प्रासंगिक है, 'आधुनिक साहित्य जितना जटिल नहीं है, उससे कहीं अधिक उसकी जटिलता का प्रचार है। जिनके ऊपर इस भ्रम को दूर करने की जिम्मेदारी थी, उन्होंने भी इसे बढ़ाने में योग दिया।' यहां वे 'साधारणीकरण' की चर्चा करते हुए कहते हैं, 'नए आचार्यों ने इस शब्द को लेकर जाने कितनी शास्त्रीय बातों की उद्धरणी की, और नतीजा? विद्यार्थियों पर उनके आचार्यत्व की प्रतिष्ठा भले हो गई हो, नई कविता की एक भी जटिलता नहीं सुलझी।' नामवर सिंह ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के संबंध में भी अपना प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'साहित्यिक इतिहास क्यों और कैसे?' निबंध में हिंदी साहित्य के इतिहास को फिर से लिखे जाने की आवश्यकता बताई है। 'इतिहास और आलोचना' के अंतर्गत उन्होंने 'व्यापकता और गहराई' जैसे महत्वपूर्ण काव्य-मूल्यों को परस्पर सहयोगी बताने का मौलिक साहस दिखाया, जबकि इन दोनों को परस्पर विरोधी गुणों के रूप में स्वीकार किया गया था। देखा जाय तो नामवर सिंह प्रगतिशील आलोचना की ऐसी पद्धति विकसित करते हैं, जो रामविलास शर्मा की स्थापनाओं से जूझते हुए उसका विस्तार भी करती है।नामवर सिंह (जन्म: 28 जुलाई 1926 बनारस, उत्तर प्रदेश

निधन: 19 फरवरी 2019, नयी दिल्ली) हिन्दी के शीर्षस्थ शोधकार-समालोचक, निबन्धकार तथा मूर्द्धन्य सांस्कृतिक-ऐतिहासिक उपन्यास लेखक हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रिय शिष्य रहे। अत्यधिक अध्ययनशील तथा विचारक प्रकृति के नामवर सिंह हिन्दी में अपभ्रंश साहित्य से आरम्भ कर निरन्तर समसामयिक साहित्य से जुड़े हुए आधुनिक अर्थ में विशुद्ध आलोचना के प्रतिष्ठापक तथा प्रगतिशील आलोचना के प्रमुख हस्ताक्षर थे।

जीवन

नामवर सिंह का जन्म 28 जुलाई 1926 ई. को बनारस (वर्तमान में चंदौली जिला) के एक गाँव जीयनपुर में हुआ था। लम्बे समय तक 1 मई 1927 को उनकी जन्म-तिथि के रूप में माना जाता रहा है और नामवर जी स्वयं भी अपना जन्म-दिवस इसी तारीख को मनाते रहे हैं, लेकिन यह वस्तुत: स्कूल में नामांकन करवाते वक्त लिखवायी गयी तारीख थी। उन्होंने हिन्दी साहित्य में एम. ए. व पी-एच.डी. करने के पश्चात् काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया, लेकिन 1959 में चकिया चन्दौली के लोकसभा चुनाव में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार रूप में चुनाव लड़ने तथा असफल होने के बाद उन्हें बी.एच.यू छोड़ना पड़ा। बी.एच.यू के बाद डॉ. नामवर सिंह ने क्रमश: सागर विश्वविद्यालय और जोधपुर विश्वविद्यालय में भी अध्यापन किया। बाद में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में उन्होंने काफी समय तक अध्यापन कार्य किया। अवकाश प्राप्त करने के बाद भी वे उसी विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र में इमेरिट्स प्रोफेसर रहे। वह हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, बाङ्ला एवं संस्कृत भाषा भी जानते थे। 19 फरवरी 2019 की रात्रि में नयी दिल्ली स्थित एम्स में उनका निधन हो गया। उन्होंने हिन्दी आलोचना को नयी पहचान दिलाई। वह वास्तव में नामवर आलोचक थे।

प्रकाशित कृतियाँ

बकलम खुद - 1951ई. (व्यक्तिव्यंजक निबन्धों का यह संग्रह लम्बे समय तक अनुपलब्ध रहने के 2013 ई. में भारत यायावर के सम्पादन में आयी पुस्तक प्रारम्भिक रचनाएँ में नामवर जी की उपलब्ध कविताओं तथा विविध विधाओं की गद्य रचनाओं के साथ संकलित होकर पुन: सुलभ हो गया है।)

शोध

1. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग - 1952 (पुनर्लिखित रूप में 1954 ई.)
2. पृथ्वीराज रासो की भाषा - 1956 (संशोधित संस्करण 'पृथ्वीराज रासो: भाषा और साहित्य')

आलोचना

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - 1954।
छायावाद - 1955।
इतिहास और आलोचना - 1957।
कहानी–नयी कहानी - 1964।
कविता के नये प्रतिमान - 1968।
दूसरी परम्परा की खोज - 1982।
वाद विवाद संवाद - 1989।

साक्षात्कार

कहना न होगा - 1994।
बात बात में बात - 2006।

पत्र-संग्रह

काशी के नाम - 2006।

व्याख्यान

आलोचक के मुख से - 2005।

सम्पादित शृंखला की आठ नयी पुस्तकें

आशीष त्रिपाठी के सम्पादन में आयीं आठ पुस्तकों में क्रमशः दो लिखित की हैं, दो लिखित और वाचिक की, दो वाचिक की तथा दो साक्षात्कार एवं संवाद की–

कविता की जमीन और जमीन की कविता - 2010।
हिन्दी का गद्यपर्व - 2010।

प्रेमचन्द और भारतीय समाज - 2010।

जमाने से दो-दो हाथ - 2010।

साहित्य की पहचान - 2012।

आलोचना और विचारधारा - 2012।

सम्मुख - 2012।

साथ साथ - 2012।

वर्ष 2018 में उनकी पाँच पुस्तकें प्रकाशित हुई, जो उनके अबतक के अप्रकाशित एवं असंकलित लेखन पर आधारित थीं।

आलोचना और संवाद।

पूर्वरंग

द्वाभा

छायावाद: प्रसाद, निराला, महादेवी और पंत

रामविलास शर्मा

इनके अतिरिक्त नामवर जी के जे.एन.यू के क्लास नोट्स भी उनके तीन छात्रों -- शैलेश कुमार, मधुप कुमार एवं नीलम सिंह के सम्पादन में नामवर के नोट्स नाम से प्रकाशित हुए हैं।

नामवर जी का अब तक का सम्पूर्ण लेखन तथा उपलब्ध व्याख्यान भी इन पुस्तकों में शामिल है। नब्बे वर्ष की अवस्था पूर्ण करने के अवसर पर प्रकाशित दो पुस्तकें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की जययात्र तथा हिन्दी समीक्षा और आचार्य शुक्ल वस्तुत: पूर्व प्रकाशित सामग्रियों का ही एकत्र प्रस्तुतिकरण हैं।

सम्पादन कार्य

अध्यापन एवं लेखन के अलावा उन्होंने 1965 से 1967 तक जनयुग (साप्ताहिक) और 1967 से 1990 तक आलोचना (त्रैमासिक) नामक दो हिन्दी पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया।

सम्पादित पुस्तकें-

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो - 1952 (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ)।

पुरानी राजस्थानी - 1955 (मूल लेखक- डॉ.0 एल.पी.तेस्सितोरीय अनुवादक - नामवर सिंह)।

चिन्तामणि भाग-3 (1983)।

कार्ल मार्क्स–कला और साहित्य चिन्तन (अनुवादक- गोरख पांडेय)।

नागार्जुन–प्रतिनिधि कविताएँ

मलयज की डायरी (तीन खण्डों में)।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास भाग-2

रामचन्द्र शुक्ल रचनावली (सह सम्पादक - आशीष त्रिपाठी)।

इनके अलावा स्कूली कक्षाओं के लिए कई पुस्तकें तथा कुछ अन्य पुस्तकें भी सम्पादित।

नामवर जी पर केन्द्रित साहित्य

आलोचक नामवर सिंह (1977) - सं. रणधीर सिन्हा।

'पहल' का विशेषांक - अंक-34, मई 1988 ई. - सं.-ज्ञानरंजन, कमला प्रसाद (यह विशेषांक पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुआ, परन्तु लम्बे समय से अनुपलब्ध है।) इसके अलावा पूर्वग्रह (अंक-44-45, 1981ई.) तथा दस्तावेज (अंक-52, जुलाई-सितंबर, 1991) के अंक भी नामवर जी पर ही केन्द्रित थे।

नामवर के विमर्श (1995) - सं.-सुधीश पचौरी (पहल, पूर्वग्रह, दस्तावेज आदि के नामवर जी पर केन्द्रित विशेषांकों में से कुछ चयनित आलेखों के साथ कुछ और नयी सामग्री जोड़कर तैयार पुस्तक)।

नामवर सिंह–आलोचना की दूसरी परम्परा (2002) - सं.- कमला प्रसाद, सुधीर रंजन सिंह, राजेंद्र शर्मा - 'वसुधा' का विशेषांक (अंक-54, अप्रैल-जून 2002, पुस्तक रूप में वाणी प्रकाशन से।

आलोचना के रचना पुरुष–नामवर सिंह (2003) - सं. भारत यायावर (पुस्तक रूप में वाणी प्रकाशन से।

नामवर की धरती (2007) - लेखक - श्रीप्रकाश शुक्ल (आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा)।

जे.एन.यू में नामवर सिंह (2009) - सं. सुमन केसरी।

'पाखी' का विशेषांक (अक्टूबर 2010) - सं. प्रेम भारद्वाज (पुस्तक रूप में नामवर सिंह–एक मूल्यांकन नाम से सामयिक प्रकाशन से।

'बहुवचन' का विशेषांक (अंक-50, जुलाई-सितंबर 2016) - 'हिन्दी के नामवर' शीर्षक से (पुस्तक रूप में अनन्य प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली से।

महत्वपूर्ण कार्य

नामवर सिंह महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति (चांसलर) होने से पहले राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष (1993-96) भी रह चुके हैं।

सम्मान

साहित्य अकादमी पुरस्कार - 1971 'कविता के नये प्रतिमान' के लिए शलाका सम्मान हिंदी अकादमी, दिल्ली की ओर से।

'साहित्य भूषण सम्मान' उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की ओर से।

शब्दसाधक शिखर सम्मान - 2010 ('पाखी' तथा इंडिपेंडेंट मीडिया इनिशिएटिव सोसायटी की ओर से।

महावीरप्रसाद द्विवेदी सम्मान - 21 दिसम्बर 2010।

❐❐❐